रोशन सितारे

प्रेरक भारतीय वैज्ञानिक

अरविन्द गुप्ता

चित्रांकन: कैरन हेडॉक



एकलव्य का प्रकाशन

रोशन सितारेः प्रेरक भारतीय वैज्ञानिक

ROSHAN SITARE: PRERAK BHARATIYA VAIGYANIK

अरविन्द गुप्ता
चित्रांकनः कैरन हेडॉक

मूल अँग्रेज़ी पुस्तक *Bright Sparks: Inspiring Indian Scientists from the Past* का लेखक द्वारा अनुवाद

मूल अँग्रेज़ी पुस्तक भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी द्वारा प्रकाशित।

अगस्त 2011 / 3000 प्रतियाँ

कागज़ः 80 gsm मेपलिथो व 300 gsm आर्ट कार्ड (कवर)

पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट, मुम्बई के वित्तीय सहयोग से विकसित

ISBN: 978-81-906971-8-7

मूल्यः ₹ 110.00

प्रकाशकः **एकलव्य**
ई-10, शंकर नगर बी.डी.ए. कॉलोनी,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 (मध्य प्रदेश)
फोनः 0755 - 255 0976, 267 1017
www.eklavya.in / books@eklavya.in

मुद्रकः आदर्श प्राइवेट लिमिटेड, भोपाल, फोनः 0755 - 255 0291

विषय-सूची

मूल अँग्रेज़ी पुस्तक
ब्राइट स्पार्क्स की भूमिका

मैं बहुत हर्ष के साथ पाठकों से *ब्राइट स्पार्क्स: इंस्पायरिंग इण्डियन साइंटिस्ट्स फ्रॉम द पास्ट* पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करता हूँ। इस सुन्दर पुस्तक को अरविन्द गुप्ता ने लिखा है और कैरन हेडॉक ने इसके मनमोहक चित्र बनाए हैं। भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी अपनी स्थापना के 75 वर्ष पूरे होने पर विविध आयोजन कर रही है। इस उपलक्ष्य में अकादमी पूरे वर्ष अनेक पुस्तकें प्रकाशित करेगी। इनमें से अधिकांश वैज्ञानिक अनुसन्धान की भारी-भरकम पुस्तकें होंगी। इस मौके पर हम एक लोकप्रिय पुस्तक प्रकाशित करना चाहते थे जो प्रेरक भारतीय वैज्ञानिकों पर हो और बच्चों को पसन्द आने वाली एक आकर्षक पुस्तक बन पड़े। जब मैं इस बारे में सोच रहा था तभी मुझे अरविन्द गुप्ता द्वारा दिए गए एक व्याख्यान की अध्यक्षता करने का मौका मिला। फरवरी 2008 में राष्ट्रीय विज्ञान दिवस पर अरविन्द गुप्ता को विज्ञान प्रसार के लिए इन्दिरा गाँधी पुरस्कार मिलने वाला था। व्याख्यान सुनने के बाद मैं उनकी क्षमताओं को लेकर पूरी तरह आश्वस्त हुआ और इस पुस्तक को लिखने के लिए मैंने उन्हें आमंत्रित किया। अरविन्द गुप्ता ने इस निमंत्रण को स्वीकारा और कैरन हेडॉक को पुस्तक के चित्र बनाने के लिए राज़ी किया। पुस्तक के लिए एक सलाहकार समिति का गठन हुआ जिसमें प्रख्यात वैज्ञानिक जयन्त नार्लीकर, माधव गाडगिल और टी. पद्मनाभन शामिल थे। सारा काम समय पर सम्पन्न हुआ और उसकी वजह से यह सुन्दर पुस्तक आज हमारे हाथ में है। मैं लेखक, चित्रकार और सलाहकार समिति का शुक्रगुज़ार हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि इस पुस्तक से बच्चों के साथ-साथ बड़ों का भी ज्ञानवर्द्धन होगा।

एम. विजयन
अध्यक्ष
भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी
नवम्बर 2009

भूमिका

इस पुस्तक के विचार ने 28 फरवरी 2008 को जन्म लिया। मौका था राष्ट्रीय विज्ञान दिवस का और स्थान था भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, नई दिल्ली। वहाँ मुझे अकादमी के अध्यक्ष प्रो. एम. विजयन के हाथों विज्ञान प्रसार के लिए इन्दिरा गाँधी पुरस्कार मिलना था। बातचीत के दौरान प्रो. विजयन ने मुझसे इस अकादमी के 75 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में अतीत के भारतीय वैज्ञानिकों के बारे में एक पुस्तक लिखने का आग्रह किया। उन्होंने मुझसे कहा, "पुस्तक पठनीय हो और उसमें सुन्दर चित्र हों, जिससे बच्चे उसे चाव से पढ़ें।"

प्रो. विजयन ने अपने आग्रह पर गम्भीरता से अमल किया। कुछ दिनों बाद उन्होंने प्रो. जयन्त नार्लीकर से सम्पर्क कर उन्हें इस पुस्तक की सलाहकार समिति की अध्यक्षता करने के लिए राज़ी किया। प्रो. नार्लीकर ने प्रो. माधव गाडगिल और प्रो. टी. पद्‌मनाभन को समिति में आमंत्रित किया। मैं इस समिति के विद्वान सदस्यों का बेहद आभारी हूँ। ये लोग न केवल चोटी के वैज्ञानिक हैं बल्कि बेहद संवेदनशील इन्सान भी हैं।

वैज्ञानिकों का चयन

कुछ बैठकों के बाद 40 वैज्ञानिकों की सूची तैयार हुई। वैज्ञानिकों को किस आधार पर चुना गया? सबसे पहले नोबल पुरस्कार से सम्मानित



वैज्ञानिकों को सम्मिलित किया गया – जो कि दुनिया का सबसे बड़ा पुरस्कार है। फिर उन वैज्ञानिकों को शामिल किया गया जो रॉयल सोसाइटी के फैलो (एफ. आर.एस.) चुने गए थे। नैन सिंह रावत का नाम एक पथ–प्रदर्शक सर्वेयर के रूप में सुझाया गया। उन्होंने वह काम किया जिसे अँग्रेज़ खुद करने में विफल रहे। उन्होंने हिमालय में तिब्बत और ल्हासा जैसे विशाल क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया। इस काम के लिए उन्हें अँग्रेज़ों ने विक्टोरिया पदक से सम्मानित किया। भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने पंजाब के प्रख्यात विज्ञान प्रसारक रुचिराम साहनी और करोड़ों लोगों की जान बचाने वाली प्रतिजैविक टेट्रासाईक्लीन के अन्वेषक येलाप्रगदा सुब्बाराव के नाम सुझाए। देश के प्रख्यात पक्षी वैज्ञानिक और शोधकर्ता सालिम अली और भारतीय अन्तरिक्ष कार्यक्रम के संस्थापक विक्रम साराभाई के नाम भी शरीक किए गए। कुछ कम ख्यात लोगों के नामों को भी सूची में जोड़ा गया। इन विलक्षण लोगों का योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण है। ये थे गणितज्ञ एवं इतिहासकार प्रो. दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी, शिरोडकर स्टिच (Shirodkar Stitch) के आविष्कारक डॉक्टर शिरोडकर, विश्व प्रसिद्ध जयपुर–फुट (Jaipur Foot) के डिज़ाइनर डॉक्टर प्रमोद कर्ण सेठी, पर्यावरणविद् अनिल अग्रवाल और हज़ारों लोगों के लिए सस्ते घर बनाने वाले वास्तुशिल्पी लॉरी बेकर। मुझे लॉरी बेकर के साथ काम करने का मौका मिला था। इसलिए सूची में उनका नाम देखकर मुझे अपार प्रसन्नता हुई।

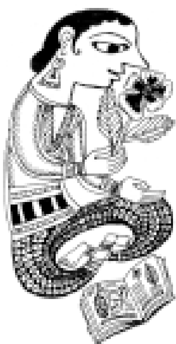
“इसमें महिला वैज्ञानिक कहाँ हैं?” प्रो. गाडगिल ने पूछा और प्रख्यात मानवशास्त्री प्रो. इरावती कर्वे का नाम सुझाया। सौभाग्य से उसी समय एक अनूठी पुस्तक *लीलावतीज़ डॉटर्स (Lilavati’s Daughters)* प्रकाशित हुई थी। इसमें 100 भारतीय महिला वैज्ञानिकों ने अपने जीवन के अनुभवों और संघर्षों को अपने शब्दों में बयान किया था। इस पुस्तक की सहायता से हम दो अन्य महिला वैज्ञानिकों, अन्ना मणि और कमला सोहोनी के नामों को जोड़ पाए। पुरुष–प्रधान विज्ञान के क्षेत्र में इन महिलाओं का योगदान वास्तव में बेजोड़ है।

महिला वैज्ञानिकों की संख्या कम क्यों?



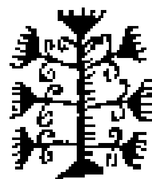
यह एक गम्भीर विषय है – 40 शीर्ष भारतीय वैज्ञानिकों की सूची में केवल तीन ही महिलाएँ क्यों? 20 क्यों नहीं? कारण स्पष्ट है – पुरुष-प्रधान समाज में आगे बढ़ने के लिए महिलाओं को अपार संघर्ष करना पड़ता है। सौ साल पहले जब महिलाओं की शिक्षा पर समाज सुधारकों की नज़र पड़ी, तब भी उन्हें पतिव्रता पत्नी और अच्छी गृहिणी बनाने पर ही ज़ोर था। सामन्ती और पुरुष-प्रधान समाज में उच्च जाति एवं उच्च वर्ग की केवल मुट्ठीभर महिलाओं को ही उच्च शिक्षा का मौका मिलता था। इन महिलाओं को भी विज्ञान के जादुई क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए एड़ी-चोटी का संघर्ष करना पड़ता था।

एक उदाहरण लें: कमला सोहोनी बम्बई विश्वविद्यालय में प्रथम आई थीं। इसके बावजूद नोबल पुरस्कार विजेता सी.वी. रामन ने उन्हें दाखिला देने से इन्कार किया: "मैं अपनी संस्था में किसी भी लड़की को नहीं लूँगा।" जब कमला ने रामन के दफ्तर में धरना दिया तब रामन थोड़ा नरम पड़े। आखिर में उन्होंने कमला को दाखिला तो दिया परन्तु एक 'विशेष' छात्रा के रूप में। बाद में कमला ने एक शोधकर्ता के रूप में अपनी साख जमाई और केम्ब्रिज से पीएच.डी. हासिल की। शुरुआत में महिला वैज्ञानिकों को विज्ञान के पुरुष-प्रधान क्षेत्र में अपने पैर जमाने के लिए बहुत मेहनत-मशक्कत करनी पड़ी। उनके संघर्षों और कुर्बानियों से भावी पीढ़ियों के लिए रास्ता प्रशस्त हुआ। आज स्थिति पहले से निश्चित ही बेहतर है। एक अनुमान के मुताबिक वर्तमान भारत में चार में से एक वैज्ञानिक महिला है। यह सचमुच हर्ष का विषय है।

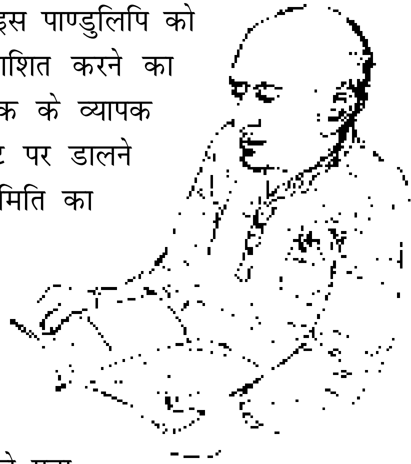




पुस्तक लिखने की ज़िम्मेदारी स्वीकार करने के बाद मैं उसमें पूरी तरह डूब गया और धीरे-धीरे इसमें मुझे लुत्फ आने लगा। सौभाग्य से डॉ. कैरन हेडॉक ने पुस्तक के चित्र बनाने और उसे डिज़ाइन करने की ज़िम्मेदारी को स्वीकारा। कैरन ने जैव-भौतिकी में पीएच.डी. की है और वे पिछले लगभग 25 सालों से भारत में हैं। उनके माता-पिता भी चित्रकार थे। उन्होंने होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की *बाल वैज्ञानिक* पुस्तकों में अपने सजीव चित्रों के माध्यम से जान फूँक दी थी। कैरन की रज़ामन्दी के बाद मुझे एक अच्छी और सुन्दर किताब तैयार होने का भरोसा हुआ। इस पुस्तक में मेरा योगदान बहुत थोड़ा है। अगर यह पुस्तक लोकप्रिय हुई तो इसका पूरा श्रेय कैरन के सुन्दर चित्रों को जाएगा।



लोगों के ज़ेहन में वैज्ञानिकों की एक घिसी-पिटी छवि होती है - ऐसे लोग जो बाहरी दुनिया से अलग-थलग, दिन-रात प्रयोगशाला में शोधकार्य करते रहते हैं। परन्तु आम लोगों की तरह वैज्ञानिकों की ज़िन्दगी भी बहुआयामी होती है। पुस्तक में वैज्ञानिकों की जीवनचर्या और शोध कार्य के साथ-साथ कुछ रोचक जानकारियाँ भी जोड़ी गई हैं: उन्हें विज्ञान की प्रेरणा कैसे मिली? क्या बचपन का कोई खास अनुभव इसके लिए ज़िम्मेदार था? क्या इस प्रेरणा के पीछे कोई विशेष व्यक्ति - उनकी माँ या कोई शिक्षक - था? पुस्तक में वैज्ञानिकों के जीवन के कुछ व्यक्तिगत पक्षों को भी सँजोया गया है। इनमें से कुछ कविताएँ लिखते थे। कुछ को चित्रकारी का शौक था तो कुछ को तेज़-रफ्तार मोटरसाइकिल चलाने का चस्का था! जीवन के मानवीय पक्षों को जोड़ने से वैज्ञानिकों के व्यक्तित्व की एक बहुआयामी छवि तैयार होती है।



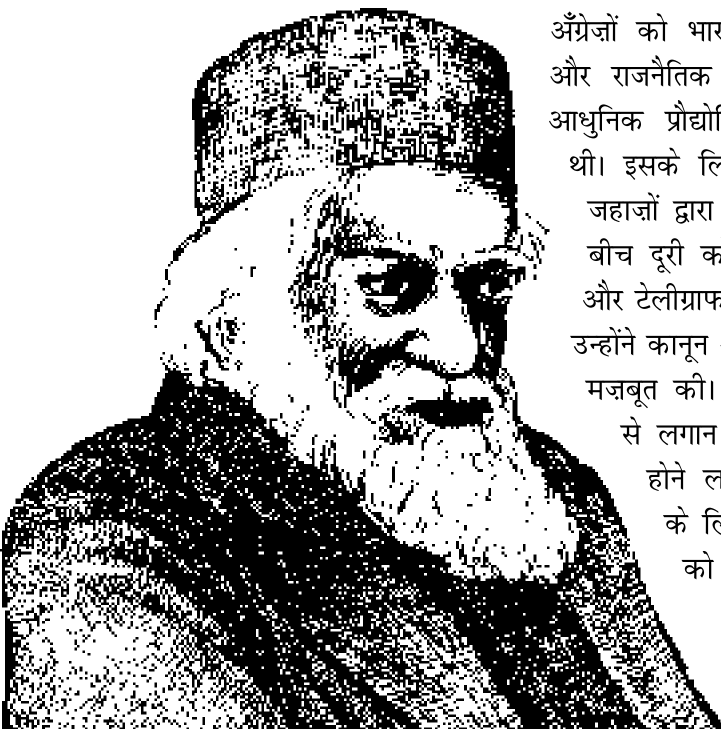
पुस्तक की सलाहकार समिति ने इस पाण्डुलिपि को अँग्रेज़ी और हिन्दी दोनों में प्रकाशित करने का सुझाव दिया था। समिति ने पुस्तक के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए उसे इंटरनेट पर डालने की सिफारिश भी की थी। मैं समिति का आभारी हूँ। मुझे आशा है कि इस पुस्तक का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी होगा। मैं अपनी पत्नी सुनीता और साथी कार्यकर्ता विदुला का तहेदिल से शुक्रगुज़ार हूँ। इन दोनों ने मेरे सभी लेखों को पढ़ा और उन्हें बेहतर बनाने के लिए अनेक सुझाव दिए।

अरविन्द गुप्ता
2 अक्तूबर 2009
ईमेल: arvindtoys@gmail.com

अरदेसर खरसेदजी

(1808 - 1877)

बहुत कम भारतवासियों ने अरदेसर खरसेदजी का नाम सुना होगा। उससे भी कम लोग इस बात से अवगत होंगे कि बम्बई का यह समुद्री इंजीनियर 27 मई 1841 को रॉयल सोसाइटी का पहला भारतीय फैलो बना। रॉयल सोसाइटी की अगली फैलोशिप 75 वर्ष बाद प्रख्यात गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजन को प्रदान की गई।



अँग्रेज़ों को भारत में अपने व्यापारिक और राजनैतिक हित साधने के लिए आधुनिक प्रौद्योगिकी की आवश्यकता थी। इसके लिए उन्होंने भाप-चलित जहाज़ों द्वारा इंग्लैण्ड और भारत के बीच दूरी को कम किया। रेलमार्गों और टेलीग्राफ का ताना-बाना बुनकर उन्होंने कानून और व्यवस्था की पकड़ मज़बूत की। संचार के इन माध्यमों से लगान की वसूली भी ज़्यादा होने लगी। मुट्ठी भर अँग्रेज़ों के लिए इतने बड़े हिन्दुस्तान को नियंत्रण में रखना एक

असम्भव कार्य था। यह काम करने के लिए उन्हें हिन्दुस्तानियों की मदद की ज़रूरत थी। शुरू में अँग्रेज़ों ने कुछ हिन्दुस्तानियों को नौकरियाँ दीं। उद्देश्य साफ था – उनकी मदद से हिन्दुस्तान को जानना–समझना। बाद में उन्होंने क्लर्की और मुंशीगिरी का प्रशिक्षण देने के लिए स्कूल स्थापित किए। किन्तु इस आधुनिक शिक्षा ने भारतीयों में राष्ट्रीय जागृति के बीज भी बोए।

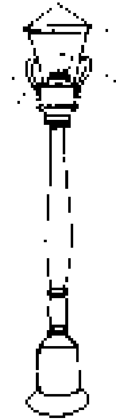
जहाज़ निर्माण के क्षेत्र में खरसेदजी के परिवार ने एक लम्बे अरसे से अँग्रेज़ों की मदद की थी। उनके एक पुरखे लाओजी नुसरवानजी (वाडिया) सूरत के बन्दरगाह में बढ़ई थे। बाद में अँग्रेज़ उन्हें नए बन्दरगाह का निर्माण करने के लिए बम्बई लाए। जहाज़ों के निर्माण के लिए अँग्रेज़ बलूत के लट्ठों का उपयोग करते थे। परन्तु तेज़ी से फैलते ब्रिटिश साम्राज्य में जल्द ही बलूत के पेड़ों का सफाया हो गया। उन्हें बलूत का एक बेहतर विकल्प मलाबार सागौन में मिला। सागौन की लकड़ी मज़बूत होती है और सड़ती नहीं है। प्रचुर मात्रा में सागौन और कुशल बढ़ई उपलब्ध होने के कारण बम्बई जहाज़ बनाने के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरा। जहाज़ बनाने के काम में लगे होने के कारण खरसेदजी परिवार को बहुत प्रतिष्ठा मिली।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में भाप–चलित जहाज़ों का उद्गम लगभग अरदेसर खरसेदजी के जन्म के समय ही हुआ। लेकिन उनकी रुचि जहाज़ निर्माण में कम और भाप–चलित मशीनों में ज़्यादा थी। जल्द ही एक हॉर्सपॉवर के इंजन का निर्माण कर उन्होंने अपनी कुशलता का परिचय दिया। एक छोटे फव्वारे के लिए कुएँ से पानी खींचने हेतु इसे



लगाया गया। यह भारत में बना पहला इंजन था। 1833 में अरदेसर ने इंग्लैण्ड से 10 हॉर्सपावर का एक समुद्री इंजन मँगाया और उसे इण्डस नाम के जहाज़ में लगाया। अक्तूबर 1833 में उन्हें माझगाँव बन्दरगाह में सहायक निर्माता बनाया गया। अरदेसर खरसेदजी ने अपने घर पर एक छोटी ढलाईशाला स्थापित की। यहाँ वे जहाज़ों के लिए लोहे की टंकियाँ ढालते थे।

उनका अगला करिश्मा था गैस से जलने वाली बत्ती। 1834 तक उन्होंने माझगाँव स्थित अपने बंगले और बगीचे को गैस की बत्तियों से रोशन कर लिया था।



जल्द ही उन्हें नवनिर्मित एलफिंस्टन इंस्टिट्यूट में विज्ञान की प्रायोगिक कक्षाएँ लेने के लिए बुलाया गया। उन्होंने वहाँ भारतीय छात्रों को यांत्रिकी और रासायनिक विज्ञान सिखाया। तीन साल बाद वे इंग्लैण्ड की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के अप्रवासी सदस्य चुने गए।

जल्द ही खरसेदजी ने एक साल इंग्लैण्ड में गुज़ारने का निर्णय लिया। वहाँ वे समुद्री जहाज़ों में लगने वाले भाप के इंजनों की नवीनतम जानकारी हासिल करना चाहते थे। इस यात्रा में वे अपने नौकरों को भी साथ ले गए क्योंकि वे केवल पारसियों के हाथ का पका खाना ही खाते थे। धार्मिक मामलों में खरसेदजी घोर रूढ़िवादी थे। इंग्लैण्ड में अगर कोई युवा पारसी पारम्परिक पारसी टोप नहीं पहनता था तो उन्हें यह बात आपत्तिजनक लगती थी। उन्हें इंग्लैण्ड की संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स की एक समिति की एक बैठक में आमंत्रित किया गया।

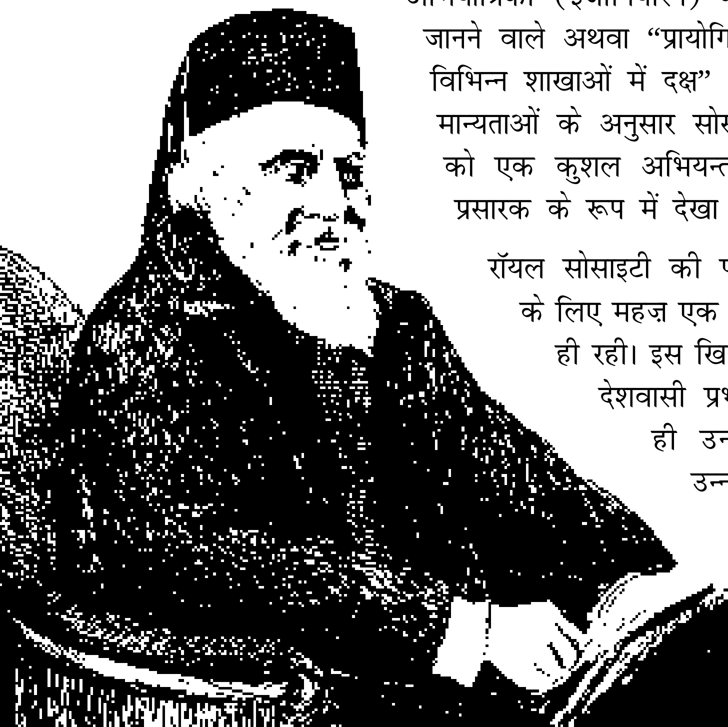
व्यस्त रहने के बावजूद खरसेदजी लन्दन से ज़्यादा प्रभावित नहीं हुए। इंग्लैण्ड की शाही टकसाल उन्हें बम्बई की टकसाल की तुलना में कहीं गई-गुज़री लगी। और बम्बई से प्रतिकूल तुलना करते हुए उन्होंने लन्दन की गन्दी सड़कों की आलोचना की।

परन्तु व्यावसायिक रूप से खरसेदजी का यह दौरा बहुत सफल रहा। वे इंस्टिट्यूशन ऑफ सिविल इंजीनियर्स (Institution of Civil Engineers),

सोसाइटी ऑफ आर्ट्स एंड साइंस (Society of Arts and Science) और ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस (British Association for the Advancement of Science) जैसी नामी–गिरामी ब्रिटिश संस्थाओं के सदस्य भी बना दिए गए। वापस लौटने पर खरसेदजी की नियुक्ति ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बम्बई स्थित कारखाने और ढलाईशाला में मुख्य अभियन्ता और निरीक्षक के पद पर हुई। उनकी तनख्वाह अब 600 रुपए महीना थी, जो उनकी पहले की तनख्वाह से सात गुना से भी ज़्यादा थी।

1841 में जब अरदेसर खरसेदजी इंग्लैण्ड में थे तब उन्हें प्रख्यात रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप से नवाज़ा गया। उनका नाम प्रभावशाली लोगों ने प्रस्तावित किया था। इनमें से दो लोग बाद में इंस्टिट्यूशन ऑफ सिविल इंजीनियर्स के अध्यक्ष बने, एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अध्यक्ष बना और एक रॉयल सोसाइटी का अध्यक्ष बना।

आजकल रॉयल सोसाइटी की छवि प्रख्यात वैज्ञानिकों के एक संगठन की है। परन्तु 20वीं शताब्दी के शुरू में रॉयल सोसाइटी प्राकृतिक इतिहास के जिज्ञासु सम्भ्रान्त लोगों का एक क्लब भी थी। ये लोग गणित और अभियांत्रिकी (इंजीनियरिंग) को अच्छी तरह से जानने वाले अथवा “प्रायोगिक दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में दक्ष” थे। उस समय की मान्यताओं के अनुसार सोसाइटी ने खरसेदजी को एक कुशल अभियन्ता और विज्ञान के प्रसारक के रूप में देखा होगा।



रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप खरसेदजी के लिए महज़ एक व्यक्तिगत उपलब्धि ही रही। इस खिताब से न तो उनके देशवासी प्रभावित हुए और न ही उनकी कोई पेशेवर उन्नति हुई। इस बीच वे बम्बई वापस लौटे और जब

1 अप्रैल 1841 को उन्होंने नया कार्यभार ग्रहण किया तो कई यूरोपीय अफसर उनके अधीन थे। अरदेसर खरसेदजी पहले भारतीय थे जिनके नीचे गोरे लोगों ने काम किया। उनके स्टाफ में एक मुख्य सहायक, चार गोरे फोरमैन, 100 गोरे अभियन्ता और बॉयलर–मेकर तथा 200 हिन्दुस्तानी कारीगर थे। उनकी नियुक्ति से कई गोरे लोगों को ईर्ष्या हुई। अँग्रेज़ों की तरफदारी करने वाले अखबार *बॉम्बे टाइम्स (Bombay Times)* ने उनकी नियुक्ति का अनुमोदन नहीं किया। उसने लिखा, "चाहे वह कितना भी पढ़ा–लिखा और योग्य क्यों न हो, फिर भी हमें सन्देह है कि किसी भी हिन्दुस्तानी में इतनी सक्षमता होगी कि वह बॉम्बे स्टीम फैक्ट्री जैसे संस्थान की कमान सम्हाल सके जिसमें उसे बहुत–से अँग्रेज़ों का निदेशन, निरीक्षण और नियंत्रण करना होगा।"

परन्तु खरसेदजी ने अपनी इस ज़िम्मेदारी को बखूबी निभाया। 1849 में वे अमरीका गए। वहाँ उन्होंने लकड़ी काटने की कुछ मशीनें खरीदीं और उन्हें बम्बई भेजा। उस समय अमरीकी लोग भारतीयों के बारे में किस तरह रूढ़ीगत ढंग से सोचते थे यह उस परिवार के एक सदस्य के लिखे इस संस्मरण से स्पष्ट होता है जिसे मिलने एक दिन वे गए थे:

> उस समय के विदेशी मेहमानों में हमें सबसे ज़्यादा चकित किया छींट के कपड़े की ऊँची टोपी पहने एक असली, जीते–जागते पारसी ने, जिसे हमारे एक मित्र चाय पर हमारे घर लाए। मेरे लिए यह एक नई बात थी कि अग्नि का एक उपासक साधारण लोगों की तरह चाय पी सकता था। पर वह एक सीधा–सादा शेर था, और नरमी से दहाड़ा। उसने औरों की तरह ही डबलरोटी और मक्खन खाया और चाय पी। उसने बम्बई में अपनी ज़िन्दगी के बारे में हमें कई रोचक कहानियाँ सुनाईं। मुझे याद है कि हम बहुत स्पष्ट ढंग से बोल रहे थे, मानो हम किसी बच्चे से बात कर रहे हों और उसने हमारे प्रश्नों के उत्तर बहुत मद्धिम, सम्भ्रान्त और संस्कारित आवाज़ में दिए। उसकी अँग्रेज़ी हम लोगों की अँग्रेज़ी से कहीं बेहतर थी।

फरवरी 1851 में अरदेसर खरसेदजी ने एक स्टीमर का जलावतरण किया

जिसका नाम ‘लाओजी फैमिली’ था। इस स्टीमर का हरेक कल–पुर्ज़ा देसी था और खरसेदजी के अपने घर में लगी ढलाईशाला में बना था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने बम्बई शहर का परिचय सिलाई मशीन, फोटोग्राफी और इंलेक्ट्रोप्लेटिंग *(electroplating)* से कराया।

सन् 1861 में वे इण्डस फ्लोटिला कम्पनी में अधीक्षण अभियन्ता के पद पर नियुक्त हुए और इस कम्पनी की सिन्ध में कोटरी स्थित भाप इंजन शाखा तथा कारखानों की बागडोर सम्हाली। फ्लोटिला कम्पनी उस समय भारतीय नौसेना के अधीन थी जिसे 1863 में भंग कर दिया गया। परिणामस्वरूप कम्पनी भी टूट गई। खरसेदजी ने इस्तीफा दिया और इंग्लैण्ड चले गए जहाँ वे रिचमंड में बस गए। वहीं 16 नवम्बर 1877 को उनका देहान्त हुआ।

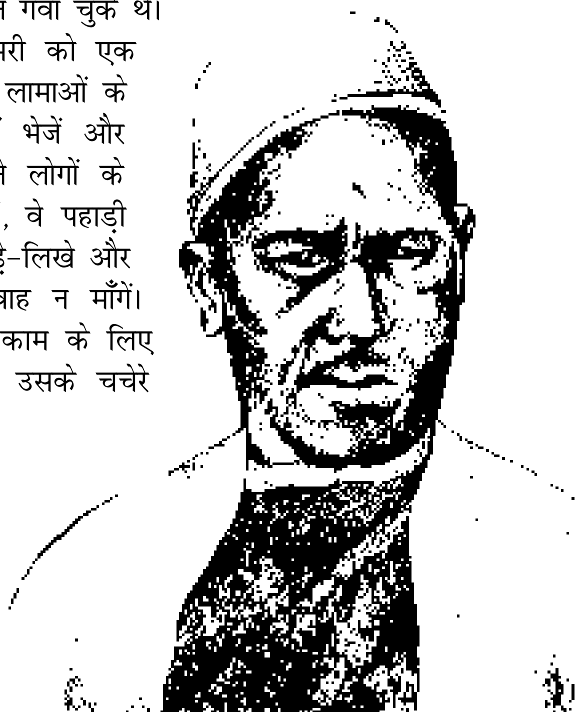
यह आश्चर्य की बात है कि तमाम उपलब्धियों के बावजूद अरदेसर खरसेदजी गुमनाम ही रहे। तब तक भारतीय वैज्ञानिक गतिविधि का केन्द्र बम्बई से हटकर कलकत्ता चला गया था और नवजागरण के अग्रणी लोगों को अरदेसर खरसेदजी के काम के बारे में कुछ पता नहीं था। शायद इसी वजह से भारत का पहला आधुनिक अभियन्ता कभी भी अपने देशवासियों के लिए एक आदर्श नहीं बन पाया। भारत सरकार ने देश के इस कुशल जहाज़ निर्माता की स्मृति में एक डाक टिकट अवश्य जारी किया।



नैन सिंह रावत

(1830 - 1895)

भारत में अपना राज्य स्थापित करने के बाद यह स्वाभाविक था कि अँग्रेज़ उपनिवेशकों की निगाहें हिमालय और उसके पार के क्षेत्रों की अपार सम्पदा पर पड़ें। पर यह राह कठिन थी। चीन के सम्राट ने तिब्बत की सीमाएँ विदेशियों के लिए बन्द कर दी थीं और उल्लंघन की सज़ा मौत थी। सर्वेक्षण विभाग के कई लोग इस क्षेत्र का सर्वे करने के चक्कर में अपनी जान गँवा चुके थे। अन्त में थॉमस जी. मॉण्टगोमरी को एक विलक्षण उपाय सूझाः क्यों न लामाओं के वेश में भारतीय जासूस वहाँ भेजें और प्रदेश के नक्शे बनवाएँ? चुने लोगों के नाक–नक्श तिब्बतियों जैसे हों, वे पहाड़ी तौर–तरीकों से वाकिफ हों, पढ़े–लिखे और जवान हों और ज़्यादा तनख्वाह न माँगें। हिमालय के सर्वेक्षण के इस काम के लिए मॉण्टगोमरी ने नैन सिंह और उसके चचेरे भाई मणी सिंह को चुना।



नैन सिंह का बचपन घोर गरीबी में बीता था। उनकी कोई पुश्तैनी ज़मीन–जायदाद नहीं



थी और परिवार बहुत बड़ा था। उनके लिए घर का खर्च चला पाना भी मुश्किल था। जवान होते ही उन्होंने कर्ज़ लेकर व्यापार शुरू किया पर असफल रहे। इसके बाद वे ऊपरी हिमालय के मिलम गाँव के स्कूल में मास्टरी करने लगे। मणी सिंह नैन सिंह से बड़े थे। 1833 में मॉण्टगोमरी ने दोनों भाइयों को सर्वेक्षण का कठिन प्रशिक्षण दिया। यह प्रशिक्षण बाद में भारत के हर सर्वेयर या 'चेन-मैन' के लिए अनिवार्य हो गया। उन्हें एक नपे-तुले तरीके से चलना सिखाया गया, जिससे भले ही भूभाग कैसा भी हो, हर कदम एक निश्चित दूरी नापता था - यानी 33 इंच। कदमों की संख्या गिनने के लिए उन्हें 100 मोतियों वाली माला दी गई थी; पारम्परिक मालाओं में 108 मोती होते हैं। इस प्रकार कदमों को गिनकर चली गई दूरी नापने में वे सक्षम हुए।

तीर्थयात्री के भेष में नैन सिंह के बोरी-बिस्तर में कई यंत्र छिपे थे। चाय के कटोरे में पारे से भरा एक खुफिया आला था जिससे क्षितिज ढूँढने में मदद मिलती थी। उनकी छड़ी में एक थर्मामीटर छिपा था, जिसे वे चाय के उबलते पानी में डुबोकर वहाँ की ऊँचाई नापते थे। हर स्कूली छात्र जानता है कि पानी उबलने का बिन्दु ऊँचाई के अनुसार बदलता जाता है।



पर सबसे खास चीज़ें नैन सिंह के प्रार्थना-चक्र में छिपी थीं। सामान्यत: प्रार्थना-चक्र एक पवित्र वस्तु होता है जिसमें चमड़े या कागज़ पर लिखा यह तिब्बती मंत्र होता है – "ओम मने पद्‌मे हुम"। परन्तु नैन सिंह का विशेष प्रार्थना-चक्र दूरियों, ऊँचाइयों और पहचान-चिह्नों के आँकड़ों से भरा था। इन पैदल सर्वेयरों को कूट नाम दिए गए थे – नैन सिंह का नाम 'चीफ पण्डित' (मुख्य पण्डित) और उनके चचेरे भाई का नाम 'सेकण्ड पण्डित' (दूसरा पण्डित) था। ये कूट नाम सर्वे करने वालों पर सदा के लिए चिपक गए और बाद में सभी सर्वेयर 'पण्डित' के नाम से पुकारे जाने लगे।

1865 में दोनों पण्डितों ने अपना पहला अभियान शुरू किया। तिब्बती सीमा पार करते वक्त उन्हें अपना भेष बदलकर तीर्थयात्री बनना पड़ा। नेपाल पहुँचने पर दोनों भाई अलग हुए। नैन सिंह ल्हासा जाने के लिए तिब्बत की सीमा की ओर बढ़े। व्यापारियों के एक दल में मिलकर उन्होंने तिब्बत में प्रवेश किया। रास्ते में व्यापारियों ने उन्हें धोखा दिया और उनके ज़्यादातर पैसे लूट लिए। सौभाग्य से सर्वेक्षण के उनके बहुमूल्य उपकरण बच गए जो एक डिब्बे के नकली तले के नीचे छिपे थे।

नैन सिंह की डायरी का एक पृष्ठ

नैन सिंह ने 1865 की गर्मियाँ अपने पुराने किस्म के उपकरणों के साथ ल्हासा की यात्रा में बिताई। खाने के लिए वे उन काफिलों से भीख माँगते थे जो कभी-कभार उस राह से गुज़रते थे। जनवरी 1866 में वे अन्ततः 'निषिद्ध नगर' ल्हासा पहुँचे और वहाँ एक तीर्थयात्री



की तरह रहने लगे। एक धर्मशाला में उन्होंने कई हफ्ते बिताए। रात के समय वे धर्मशाला की छत से तारों का अध्ययन करते। पानी उबलने के तापमान के आधार पर उन्होंने समुद्र-सतह से ल्हासा की ऊँचाई का अनुमान 3,240 मीटर लगाया। आज नवीनतम उपकरणों द्वारा यह ऊँचाई 3,540 मीटर नापी गई है। तारों की कोणीय ऊँचाई *(angular altitude)* के आधार पर उन्होंने ल्हासा के अक्षांश का अनुमान भी लगाया।

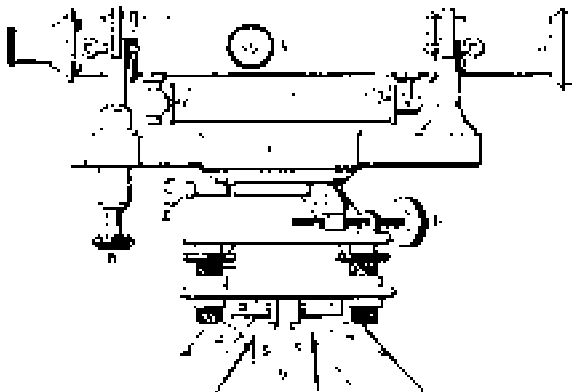
अप्रैल में नैन सिंह अपने सारे उपकरण बटोरकर एक कारवाँ से साथ वापस भारत की ओर चल पड़े। कारवाँ तिब्बत की प्रमुख नदी त्सांगपो के साथ-साथ पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। एक रात नैन सिंह चुपके से कारवाँ छोड़कर भाग निकले। फिर वे उत्तर की ओर बढ़े और 27 अक्तूबर 1866 को सर्वेक्षण विभाग के देहरादून स्थित मुख्यालय पहुँचे।

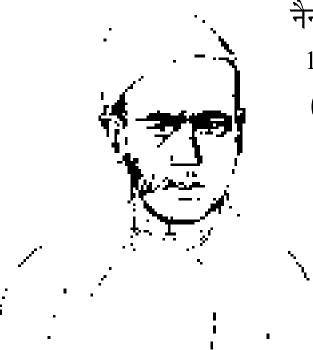
नैन सिंह ने दो और यात्राएँ भी कीं। 1867 की अपनी दूसरी यात्रा के

दौरान उन्होंने पश्चिमी तिब्बत का दौरा किया और वहाँ स्थित सोने की प्रख्यात ठोक–जालुंग खदानों को देखा। उन्होंने गौर किया कि वहाँ के मज़दूर केवल सतह को ही खोद रहे थे। उनका मानना था कि गहरी खुदाई करना पृथ्वी के प्रति अपराध है जिससे उसकी उर्वरता कम हो जाएगी।

1873–75 के बीच नैन सिंह ने कश्मीर के लेह से ल्हासा तक यात्रा की। पिछली बार वे त्सांगपो नदी के किनारे–किनारे गए थे पर इस बार उन्होंने उत्तर का रास्ता चुना। लगभग 50 साल तक इस क्षेत्र की ठोस जानकारी का आधार नैन सिंह द्वारा बनाए नक्शे ही थे। इस अन्तिम यात्रा का नैन सिंह की सेहत पर बुरा प्रभाव पड़ा। उनकी आँखें भी कमज़ोर हो गईं। उसके बाद भी वे कई सालों तक अन्य पण्डितों को सर्वेक्षण और जासूसी की कला सिखाते रहे, और यह काम उन्होंने बहुत प्रशंसनीय ढंग से किया।

देहरादून में नैन सिंह के नक्शों के आधार पर धीरे–धीरे सटीक नक्शे बनाए गए। यह काम ग्रेट ट्रिग्नोमैट्रिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (भारत का वृहत् त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण) की स्थापना के बाद ज़्यादा व्यवस्थित ढंग से किया जाने लगा। इस विस्तृत सर्वेक्षण में शुद्धता से अक्षांश और देशान्तर के बिन्दु स्थापित किए गए और फिर धीरे–धीरे बिन्दुओं के बीच त्रिकोण बनाकर भारत के तटवर्ती और भीतरी क्षेत्रों का पूरा नक्शा बनाया गया।





नैन सिंह का नाम और उनके काम की ख्याति फैलने लगी। 1876 में उनकी उपलब्धियों के बारे में *ज्योग्राफिकल (Geographical)* पत्रिका में लिखा गया। जल्द ही पुरस्कारों का ताँता लग गया। सेवानिवृत्ति के बाद भारत सरकार ने उन्हें एक गाँव और एक हज़ार रुपए देकर सम्मानित किया। 1868 में रॉयल ज्योग्राफिक सोसाइटी ने नैन सिंह को सोने का एक नक्काशीदार कालमापी पुरस्कार में दिया। 1877 में इसी संस्था ने नैन सिंह को विक्टोरिया पदक से भी सम्मानित किया। पदक पर ये शब्द अंकित थेः "यह वो इन्सान है जिसने हमारे समय में एशिया के नक्शे को किसी भी अन्य व्यक्ति की तुलना में अधिक सकारात्मक ज्ञान से समृद्ध किया।" पेरिस की सोसाइटी ऑफ ज्योग्राफर्स ने भी नैन सिंह को एक नक्काशीदार घड़ी भेंट की। 27 जून 2004 को भारत सरकार ने ग्रेट ट्रिग्नोमैट्रिकल सर्वे में नैन सिंह की भूमिका की स्मृति में एक डाक टिकट जारी किया।

हालाँकि जीवन के बाद के वर्षों में नैन सिंह को उनकी योग्यता के अनुरूप मान्यता मिल गई थी, फिर भी यह हैरानी की बात है कि इस अत्यधिक दुर्गम भूभाग की 16,000 मील से अधिक की कठिन यात्रा उन्होंने केवल 20 रुपए महीने के शुरुआती वेतन के लिए की! शायद, आखिर में इस सब का मूल्य है – नैन सिंह ने वह करके दिखाया जो कभी कोई गोरा नहीं कर पाया था।





1895 में मारकोनी ने वायरलेस (बेतार) के माध्यम से एक सन्देश भेजा और उसे एक मील की दूरी पर रिसीवर द्वारा पकड़कर विश्व को अचम्भित कर दिया। परन्तु इससे दो साल पहले ही कलकत्ता स्थित प्रेसिडेंसी कॉलेज के जगदीश चन्द्र बोस ने वायरलेस तरंगों के माध्यम से एक मील दूर रखी घण्टी बजाकर लगभग इसी वैज्ञानिक प्रयोग को जनता के बीच दिखाया था। बोस ने शोध के दो सर्वथा भिन्न क्षेत्रों यानी रेडियो तरंग और वनस्पति विज्ञान में मौलिक योगदान दिया। पौधों की संवेदनशीलता की उन्हें इतनी गहरी समझ थी कि अक्सर उनके छात्र मज़ाक करते हुए कहते कि वे पौधों से बातचीत कर सकते हैं।



बोस का जन्म 30 नवम्बर 1858 को फरीदपुर, पूर्वी बंगाल (वर्तमान बांग्लादेश) में हुआ। उनके पिता भगवान चन्द्र बोस एक परोपकारी नौकरशाह थे। उन्हें अपनी मातृभाषा बांग्ला से प्रेम था और गरीब लोगों

से बेहद सहानुभूति थी। उन्होंने बेरोज़गारों को काम देने की कोशिश की परन्तु इस प्रयास में वे खुद गहरे कर्ज़ में डूब गए। परन्तु पिता के आदर्शों और गरीबों के प्रति सहानुभूति ने जगदीश चन्द्र को जीवन भर प्रेरित किया।

बचपन में जगदीश चन्द्र बांग्ला माध्यम के एक स्थानीय स्कूल में पढ़े। यहाँ उनका सम्पर्क विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चों से हुआ। इस समृद्ध अनुभव का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे जीवन भर जात-पाँत, ऊँच-नीच और पक्षपात से मुक्त रहे। गरीब किसानों के बच्चों से मेलजोल के कारण उन्हें पशुओं, पौधों और पक्षियों से चिर-स्थायी प्रेम हुआ। शायद बचपन के इसी अनुभव के कारण ही आगे चलकर उन्होंने पौधों का गहन अध्ययन किया।

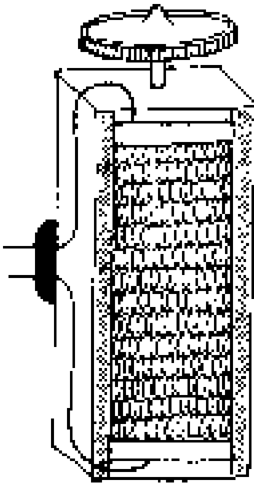
1875 में उन्होंने कलकत्ता के सेंट ज़ेवियर्स स्कूल में दाखिला लिया। स्कूल में वे अपने जेबखर्च के सारे पैसे पौधों और पालतू जीवों पर लुटा देते। 1879 में उन्होंने सेंट ज़ेवियर्स कॉलेज से विज्ञान की डिग्री प्राप्त की। यहाँ उनकी भेंट भौतिकी के एक उत्कृष्ट शिक्षक फादर लाफोंट से हुई। जगदीश इंग्लैण्ड जाकर इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा देना चाहते थे। परन्तु उनके पिता को अँग्रेज़ों की सेवा करने का यह विचार रास नहीं आया। जगदीश डॉक्टरी सीखे इस बात पर पिता राज़ी हो गए क्योंकि उन्हें लगा कि डॉक्टर बनकर जगदीश गरीबों की सेवा कर पाएगा।

1880 में जगदीश चन्द्र इंग्लैण्ड चले गए परन्तु वहाँ वे जल्द ही बीमार पड़ गए। विशेषज्ञों के उपचार के बाद भी उनका काला-अज़ार ठीक नहीं हुआ। मेडिकल पढ़ाई के दौरान चीर-फाड़ के कमरे की तेज़ गन्ध से उनकी बीमारी बढ़ने का डर था, इसलिए उन्हें डॉक्टरी की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बाद में उन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के क्राइस्ट चर्च कॉलेज में प्राकृतिक विज्ञान सीखने के लिए दाखिला लिया। यहाँ उनके शिक्षक प्रसिद्ध वैज्ञानिक लॉर्ड रैले थे। जगदीश चन्द्र ने अपने शिक्षक के साथ आजीवन मित्रता निभाई।

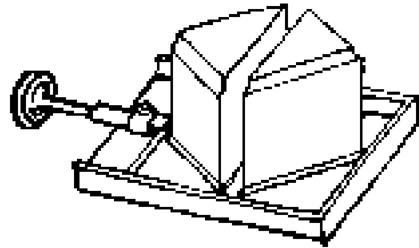
1885 में भारत लौटने के बाद प्रेसिडेंसी कॉलेज में प्राध्यापक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। परन्तु यहाँ उनके साथ खुलेआम भेदभाव हुआ। वहाँ समान कार्य के लिए भारतीयों को अँग्रेज़ों की तुलना में केवल दो-तिहाई

तनख्वाह ही मिलती थी। जगदीश चन्द्र ने इस भेदभाव का एक अनूठे तरीके से विरोध किया। पिता के कर्ज़ में डूबे होने के बावजूद उन्होंने तीन साल बिना तनख्वाह लिए तन–मन से काम किया। 1887 में जगदीश चन्द्र का अबला बोस से विवाह हुआ। इससे उनकी आर्थिक ज़िम्मेदारियाँ और बढ़ीं। परन्तु फिर भी बोस घोर कठिनाइयों का सामना करते हुए बिना तनख्वाह के काम करते रहे। अन्त में प्रशासन नरम पड़ा और उन्हें बकाया राशि समेत पूरी तनख्वाह दी गई। इस राशि से वे पिता का कर्ज़ चुका पाए।

प्रेसिडेंसी कॉलेज में बोस की साख एक योग्य और लोकप्रिय शिक्षक के रूप में उभरी। भौतिकी से उन्हें बेहद लगाव था और सरल प्रयोगों और मॉडलों के ज़रिए वे छात्रों को इसके चमत्कारों से परिचित करवाते। उनके कई छात्र प्रख्यात वैज्ञानिक बने। उनमें भौतिक विज्ञानी सत्येन्द्र नाथ बोस भी थे जिनके सम्मान में प्राथमिक उप–पारमाण्विक कणों के एक समूह को 'बोसॉन' *(boson)* नाम दिया गया है!



विकिरण की लघु तरंग दैर्घ्य का पता लगाने के लिए बोस ने यह सर्पिल स्प्रिंग रिसीवर बनाया।



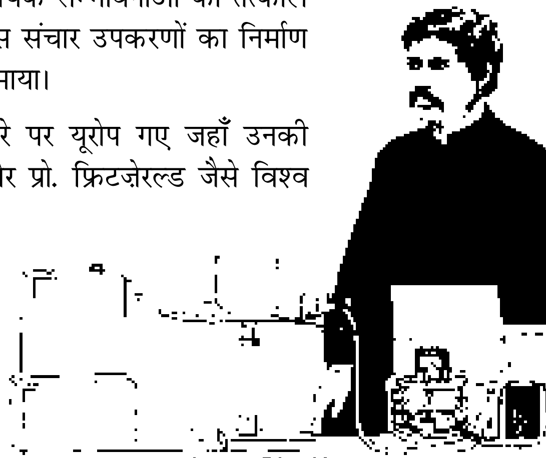
डबल प्रिज़्म अटेन्युएटर

जगदीश चन्द्र बोस द्वारा प्रेसिडेंसी कॉलेज में शोधकार्य के लिए प्रयोगशाला स्थापित करने के सभी प्रयासों पर अँग्रेज़ों ने अंकुश लगाया। अन्त में तंग आकर बोस ने भौतिकी विभाग के एक बन्द पड़े गुसलखाने में प्रयोगशाला बनाई। यहाँ अत्यन्त प्राथमिक स्तर के उपकरणों और यंत्रों से उन्होंने विद्युत–चुम्बकीय


पटसन का ध्रुवक

तरंगों के उत्पादन, प्रसारण, अपवर्तन (refraction), विवर्तन (diffraction), ध्रुवण (polarization) एवं परिचयन (detection) पर मौलिक शोध शुरू किया। आज प्रचलित सूक्ष्म तरंग (microwave) उपकरणों के कई कल-पुर्ज़ों – तरंग प्रदर्शिका, लेंस एंटिना, ध्रुवक (polariser) पारद्युतिक लेंस (dielectic lenses), प्रिज़्म और विवर्तन ग्रेटिंग (diffraction grating) की झलक हमें उनके प्रयोगों में मिलती है। इनमें से कई उपकरणों के वे खुद आविष्कारक थे - इनमें बटे हुए पटसन का असाधारण ध्रुवक शामिल है! बोस द्वारा सीसे से बनाए रिसीवर को 1904 में पेटेंट भी मिला। 1977 के नोबल पुरस्कार विजेता और ट्रांज़िस्टर के आविष्कारक प्रो. ब्रिटन के अनुसार बोस पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम अर्धचालक क्रिस्टलों (semiconducting crystals) का उपयोग कर रेडियो तरंगें पकड़ीं। 1977 के ठोस अवस्था इलेक्ट्रॉनिकी में नोबल पुरस्कार विजेता नेविल मॉट के अनुसार बोस अपने अनुसन्धान में दुनिया से 60 वर्ष आगे थे। उन्होंने कहा, "वस्तुतः उन्हें एन-टाइप और पी-टाइप अर्धचालक के मौजूद होने का पूर्वानुमान था।"

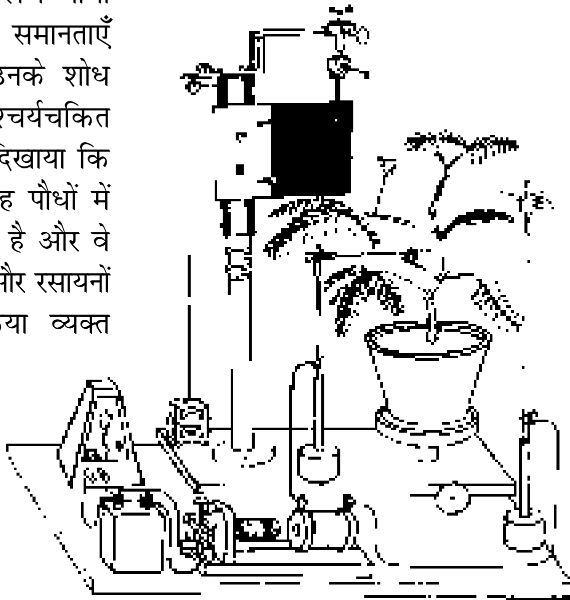
बोस की रुचि घटनाओं के केवल वैज्ञानिक पक्ष में थी, उसे पेटेंट कर उससे धन कमाने में नहीं। जबकि उनके समकालीन मारकोनी ने वायरलेस की व्यावसायिक सम्भावनाओं को तत्काल पहचाना और वायरलेस संचार उपकरणों का निर्माण कर खूब मुनाफा कमाया।



बोस एक शैक्षिक दौरे पर यूरोप गए जहाँ उनकी भेंट लॉर्ड कैल्विन और प्रो. फ्रिटज़ेरल्ड जैसे विश्व के अग्रिम पंक्ति के वैज्ञानिकों से हुई। 1897 के आसपास बोस की रुचि में एकदम बदलाव आया। विकिरण

ढूँढने के लिए उन्होंने जो रिसीवर बनाया था वह कभी 'तेज़' और कभी 'मन्द' प्रदर्शन दिखाता था। इससे उनका कौतूहल जगा। ये उन्हें मनुष्य की 'थकान' और 'नई ऊर्जा' की अवस्थाओं जैसी लगीं। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि रिसीवर भी आण्विक स्तर पर काम, थकान, आराम और पुनर्जीवन के चक्र से गुज़रता है। उनके एक शोधपत्र, "सजीव और निर्जीव पदार्थों में विद्युत द्वारा उत्पादित सामान्य आण्विक प्रतिभास" पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। इसके कई दशकों बाद जब जैवभौतिकी (Biophysics) और साइबरनेटिक्स (cybernetics) का उद्‌गम हुआ तो साबित हुआ कि बोस सही रास्ते पर थे।

बाद में बोस की रुचि पौधों और जीवों के बीच समानताएँ खोजने में जगी। उनके शोध ने लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। उन्होंने दिखाया कि सभी जीवों की तरह पौधों में भी स्नायु–तंत्र होता है और वे विद्युत धारा, उष्मा और रसायनों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। क्योंकि विषय एकदम नया था इसलिए बोस ने प्रयोग के लिए स्वयं कई नए उपकरणों को



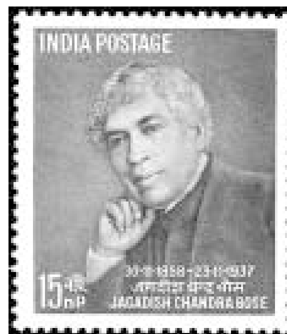
बोस ने विज्ञान के प्रचार–प्रसार के लिए बांग्ला में ढेरों लोकप्रिय लेख लिखे। बोस का परवर्ती जीवन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ आगे बढ़ा। उनकी प्रबल राष्ट्रवादी भावनाएँ अनिवार्य रूप से उन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रफुल्ल चन्द्र रे और स्वामी विवेकानन्द की आंग्ल–आयरिश शिष्या सिस्टर निवेदिता के निकट खींच ले गईं।

डिज़ाइन किया और उनका निर्माण किया। उदाहरण के लिए, पौधों की वृद्धि दर नापने का यंत्र – क्रेसकोग्राफ (Crescograph)। इस उपकरण से पौधों पर रासायनिक खाद और कीटनाशकों के प्रभावों को तेज़ी से नाप पाना सम्भव हो गया।

1915 में बोस अपनी शैक्षिक नौकरी से सेवानिवृत्त हुए। 1917 में उन्हें नाइटहुड (Knighthood) के खिताब से सुशोभित किया गया। उसी वर्ष अपने जन्मदिन पर बोस ने बसु विज्ञान मन्दिर की स्थापना की। यह संस्था अन्त:विषय अनुसन्धान को समर्पित थी। रवीन्द्रनाथ ने इस संस्था का स्वागत गीत रचा। 1920 में बोस को रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप के लिए चुना गया।

बोस एक देशभक्त और सांस्कृतिक राष्ट्रवादी थे और उन्हें अपने देश की प्राचीन विरासत पर गर्व था। वे समझ गए थे कि उपनिवेशवाद भारतीयों के आत्मसम्मान को नष्ट कर रहा था। उन्होंने पश्चिमी देशों के सामने साबित कर दिखाया कि भारतीय लोग भी विश्वस्तर का वैज्ञानिक शोध कर सकते थे।

अपने 80वें जन्मदिन के कुछ दिन पूर्व ही, 23 नवम्बर 1937 को जगदीश चन्द्र बोस का देहान्त हुआ। वे भारतीय वैज्ञानिकों की भावी पीढ़ियों हेतु अनुसरण के लिए एक समृद्ध परम्परा छोड़ गए।





प्रफुल्ल चन्द्र रे

(1861 - 1944)

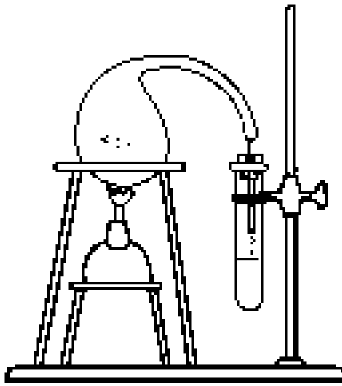
यकीन नहीं होता कि सादे लिबास और सरल आचरण वाला
यह व्यक्ति इतना बड़ा वैज्ञानिक और प्राध्यापक होगा।

– मो. क. गाँधी



1860 के दशक में हमारे देश में कई महारथियों ने जन्म लिया – रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, मोहनदास करमचन्द गाँधी, स्वामी विवेकानन्द और प्रफुल्ल चन्द्र रे।

प्रफुल्ल चन्द्र रे का जन्म 2 अगस्त 1861 को एक गाँव में हुआ जो अब बांग्लादेश के खुलना ज़िले में है। गाँव में शुरुआती शिक्षा के बाद उनके पिता हरीश चन्द्र अपने बच्चों की अच्छी शिक्षा की खातिर उन्हें कलकत्ता लेकर आ गए। युवा प्रफुल्ल पर ब्राह्म समाज के समाज सुधारकों का गहरा असर पड़ा। वे प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़े क्योंकि (ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित) उनके अपने मेट्रोपॉलिटन कॉलेज में आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं। उस ज़माने में



एफ.ए. की डिग्री के लिए रसायन विज्ञान का विषय अनिवार्य था। 1882 में अत्यन्त कठिन परिश्रम व प्रतिभा के बल पर प्रफुल्ल ने गिलक्रिस्ट वज़ीफा जीता और विज्ञान की आगे की पढ़ाई के लिए वे एडिनबरा चले गए। वहाँ पर मशहूर रसायनशास्त्री ए. सी. ब्राउन उनके प्रिय शिक्षक और मार्गदर्शक बने। 1887 में प्रफुल्ल ने पीएच.डी. की उपाधि हासिल की। उसके बाद उन्होंने 'होप' पुरस्कार जीता और विश्वविद्यालय की केमिकल सोसाइटी के उपाध्यक्ष बने। एडिनबरा प्रवास के दौरान उन्हें रसायन विज्ञान से गहरा प्रेम हो गया।

1888 में जब वे भारत लौटे तो उन्हें विश्वविद्यालय की नौकरी ढूँढने में दिक्कत हुई क्योंकि उस समय विश्वविद्यालय में नौकरियाँ अँग्रेज़ों के लिए आरक्षित होती थीं। बाद में उन्हें प्रेसिडेंसी कॉलेज में नौकरी मिली जहाँ उन्होंने पूरे 27 वर्ष पढ़ाया। रे अपनी कक्षा में वास्तविक प्रयोग दिखाते। इससे उनकी कक्षाएँ प्रेरक और प्रभावी बनतीं। उनके छात्रों में दो भावी दिग्गज वैज्ञानिक थे – मेघनाद साहा और सत्येन्द्र नाथ बोस। नील रत्न घोष और जे.सी. घोष जैसे अनेक होशियार छात्र प्रफुल्ल चन्द्र रे की ओर आकर्षित हुए और इस प्रकार रसायन विज्ञान के पहले भारतीय केन्द्र का जन्म हुआ। धीरे-धीरे इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली।

रेडियो-तरंगों पर अनुसन्धान के लिए विख्यात जगदीश चन्द्र बोस कॉलेज में रे से तीन साल वरिष्ठ थे। ये दोनों मित्र 20वीं शताब्दी की शुरुआत में भारतीय विज्ञान के कर्णधार थे।

इंग्लैण्ड प्रवास के दौरान रे विज्ञान और उद्योग के बीच के सम्बन्ध को अच्छी तरह समझ पाए थे। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की रुचि केवल भारत के कच्चे माल में थी, यहाँ पर उद्योग स्थापित करने में नहीं। यह काम रे ने किया। उन्होंने दवाइयाँ, रसायनिक अम्ल और अनेक अन्य उत्पाद बनाने पर अनुसन्धान किया। इसके फलस्वरूप सन् 1901 में बंगाल



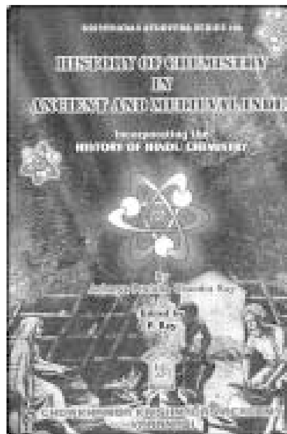
अविचलित साहस, सच्ची दृढ़ता एवं जुनून से एक दुर्जेय संगठन का उदय हुआ, जो आज भी बंगाल केमिकल्स एंड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड के नाम से जाना जाता है।

केमिकल एंड फार्मास्यूटिकल वर्क्स की स्थापना हुई (बंगाल केमिकल्स एंड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड के नाम से यह कम्पनी आज भी कार्यरत है)। परन्तु यह काम बहुत कठिन था। नींबू से सिट्रिक अम्ल बनाने का उनका प्रयास असफल रहा। गन्धक अम्ल को व्यावसायिक स्तर पर बनाने में भी वे असफल रहे। अन्त में वे जानवरों की हड्डियों से कॉस्टिक सोडा बनाने में कामयाब हुए। उन्हें कई बार पुलिस और अपने पड़ोसियों को सफाई देनी पड़ी कि वे मनुष्यों की हड्डियाँ नहीं उपयोग कर रहे हैं! पर उनके इन प्रयासों के अनेक लाभ हुए। जैसे–जैसे उनकी कम्पनी ने तरक्की की, वैसे–वैसे अन्य लोग भी उद्योग लगाने के लिए प्रेरित हुए। रे ने चीनी–मिट्टी, साबुन और डिब्बाबन्द फलों के उद्योग भी लगाए।

रे के शोध का क्षेत्र काफी व्यापक था। शुरू में उन्होंने खाद्य पदार्थों में मिलावट के विषय पर काम किया। आवर्त सारणी (Periodic Table) के अज्ञात तत्वों को ढूँढते हुए उन्होंने मरक्यूरस नाइट्रेट (Mercurous Nitrate) को खोज निकाला। कई सालों तक उन्होंने इस लवण तथा उसके व्युत्पन्न पदार्थों पर शोध किया। उन्होंने 100 से भी अधिक शोधपत्र लिखे।

रे ने विद्यालयों और महाविद्यालयों में मातृभाषा में शिक्षण की पुरज़ोर पैरवी की। बांग्ला भाषा की उन्नति के लिए कार्य करने के कारण उन्हें बंग साहित्य परिषद का अध्यक्ष (1931–34) चुना गया। रे की इतिहास और

साहित्य में भी गहरी रुचि थी। वे आधा दर्जन भाषाओं में पारंगत थे। एक बार उन्होंने बताया था कि वे “गलती से रसायनशास्त्री बन गए”।



रे एक प्रबुद्ध वैज्ञानिक थे और वे प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक उपलब्धियों को उजागर करना चाहते थे जिससे आम लोग अपनी विरासत और परम्पराओं पर गर्व महसूस करें। उन्होंने दो खण्डों में प्राचीन व मध्यकालीन भारत में रसायनशास्त्र का इतिहास (*History of Chemistry in Ancient and Medieval India*) लिखी। उन्होंने *लाइफ एंड एक्सपीरियेंसेज़ ऑफ ए बेंगॉली केमिस्ट* (*Life and Experiences of a Bengali Chemist*/एक बंगाली रसायनशास्त्री का जीवन और अनुभव) शीर्षक से आत्मकथा भी लिखी।

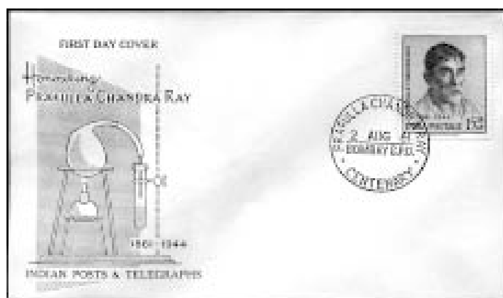
रे की ज़िन्दगी इस बात की मिसाल थी कि लक्ष्य के प्रति केन्द्रित कोई व्यक्ति अपने समय और प्रतिभा द्वारा क्या-क्या हासिल कर सकता है। 1916 में वे प्रेसिडेंसी कॉलेज से सेवानिवृत्त हुए। सर आशुतोष मुखर्जी के आग्रह पर अगले 20 सालों तक वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के नवनिर्मित विज्ञान महाविद्यालय में रसायन विज्ञान पढ़ाते रहे। यहाँ उनके शोध छात्रों ने रसायन विज्ञान के कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिए।

रे परम्परा और आधुनिकता का मिश्रण थे। वे आम भारतीयों जैसे कपड़े पहनते और उन्हें भारत की विरासत पर अपार गर्व था। उनका रहन-सहन एकदम सादा, बिलकुल गाँधीजी जैसा था। सारी ज़िन्दगी वे महाविद्यालय के ऊपर स्थित एक कमरे में रहे। इसी कमरे में उनके साथ कई गरीब छात्र भी रहते जिनकी फीस वे खुद भरते थे। उन्होंने जाति-भेद मिटाने और विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए संघर्ष किया। अकाल और बाढ़ जैसी आपदाओं में मदद करने के लिए वे सबसे आगे रहते। वे अविवाहित रहे और जीवन भर जनकल्याण के लिए काम करते रहे। उनके प्रिय छात्रों ने उनको ‘आचार्य’ की उपाधि दी।

1919 में उन्हें नाइटहुड (Knighthood) से सम्मानित किया गया और 1934 में उन्हें लन्दन केमिकल सोसाइटी का सदस्य मनोनीत किया गया। कई विश्वविद्यालयों ने भी उन्हें सम्मानित किया। 1924 में स्थापित इण्डियन केमिकल सोसाइटी ने उन्हें अपना पहला अध्यक्ष चुना।

सी.वी. रामन ने भी भौतिकी के प्राध्यापक के रूप में प्रफुल्ल चन्द्र रे के साथ विज्ञान महाविद्यालय में काम किया। युवा रामन के काम से रे बेहद प्रभावित थे और रामन के नोबल पुरस्कार पाने से बहुत पहले ही उन्होंने यह घोषणा की थी: “अगर विज्ञान के इस मन्दिर ने केवल एक रामन पैदा करने के अलावा और कुछ नहीं किया होता, तो भी उसने अपने संस्थापक की उम्मीदें पूरी कर दी होतीं।”

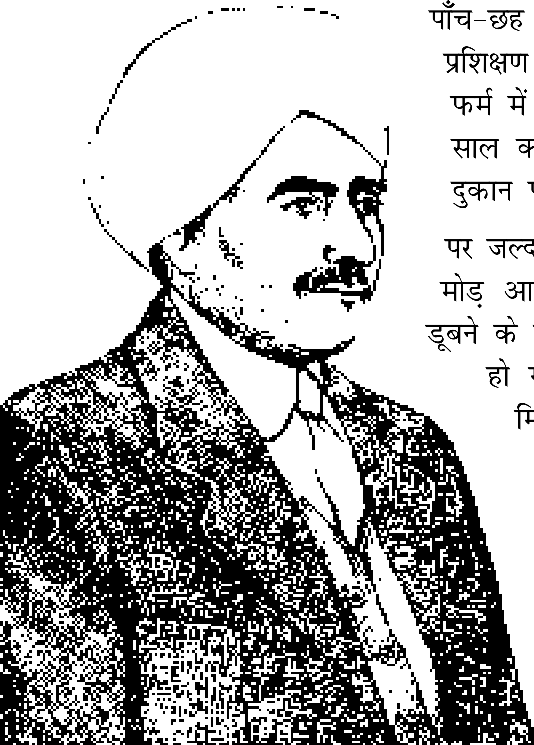
प्रफुल्ल चन्द्र रे का देहान्त 16 जून 1944 को हुआ। अपने जीवनकाल में रे ने अपने देश और देशवासियों को बहुत प्रगति करते हुए देखा। इस दौरान उनके बहुत से सपने साकार हुए। अपने देश को आज़ाद होते हुए वे नहीं देख पाए पर उनके द्वारा तैयार की गई वैज्ञानिकों की नई पीढ़ी ने स्वाधीन भारत में रसायन विज्ञान के अनुसन्धान को बहुत आगे बढ़ाया। वे कभी उनके उपकारों को नहीं भूले और हमेशा उन्हें भारतीय रसायन विज्ञान का पिता कहा। जुलाई 1944 में *नेचर (Nature)* पत्रिका ने श्रद्धांजलि देते हुए लिखा, “भारत में पिछले पचास साल में हुई वैज्ञानिक प्रगति का सबसे अधिक श्रेय सर प्रफुल्ल को है......।”



रुचिराम साहनी

(1863 - 1948)

रुचिराम साहनी एक पथप्रदर्शक शिक्षाविद् थे। उन्होंने पंजाब के दूर-दराज़ के इलाकों में विज्ञान के लोकव्यापीकरण और प्रचार-प्रसार का महत्वपूर्ण काम किया। उनका जन्म 5 अप्रैल 1863 को डेरा इस्माइल खान नाम के एक छोटे शहर में हुआ था। यह शहर अब पाकिस्तान में है। कुछ समय तक एक अनौपचारिक विद्यालय में पढ़ने के बाद पाँच-छह बरस की उम्र में उन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए एक दुकान और व्यापारिक फर्म में भेज दिया गया। उसके बाद नौ-दस साल की उम्र में उन्होंने अपने पिताजी की दुकान पर काम करना शुरू किया।



पर जल्द ही रुचिराम के जीवन में एक बड़ा मोड़ आया: कई जहाज़ों के सिन्धु नदी में डूबने के कारण उनके पिता का व्यापार तबाह हो गया। रुचिराम का दाखिला चर्च के मिशन स्कूल में करा दिया गया जो एक साल बाद ही बन्द हो गया, क्योंकि स्कूल के तीन छात्रों द्वारा ईसाई धर्म अपनाने के बाद अभिभावकों ने

"मैं एक पण्डे से गणित सीखता था। मेरे द्वारा हरेक पहाड़े को याद करके, बिना रुके सुनाने पर पिताजी उन्हें चार आने देते थे। यह ऊपर की फीस थी जो आम तौर पर छात्रों द्वारा हर हफ्ते दिए जाने वाले आटा, गुड़ आदि के अलावा होती थी। पण्डे से विदा लेते समय मुझे 20 X 35 तक के भिन्न और पहाड़े भी मुँह-ज़बानी याद हो गए थे।

पढ़ाई के बाद मुझे एक-दो महीने एक दुकानदार के साथ बिताने पड़े जहाँ मुझे सीखे हुए पहाड़ों और अंकगणित को वास्तविक परिस्थितियों में लागू करने का मौका मिला। जहाँ तक मुझे याद है, चीज़ों के हिसाब जोड़ने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। प्रशिक्षण का उद्देश्य मुझे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में गणित का महत्व समझाना था। पहाड़े महज़ रटने की चीज़ नहीं थे – उनका जीवन से सरोकार था और कुछ गलती करने पर धन्धे में नुकसान हो सकता था। सही और तेज़ी से हिसाब लगा पाना व्यापार की उन्नति के लिए ज़रूरी था।"

– रुचिराम साहनी की आत्मकथा से।

विरोध किया था। उसके बाद मण्डी में बिकी उपज के दान से एक सामुदायिक स्कूल शुरू किया गया। 15 साल की उम्र में रुचिराम माध्यमिक विद्यालय परीक्षा में प्रथम स्थान पाकर उत्तीर्ण हुए और उन्होंने झंग के पास स्थित हाईस्कूल में दाखिला ले लिया। कुछ ही दिनों बाद पिताजी की तबियत खराब होने के कारण उन्हें वापस घर जाना पड़ा। लगभग 250 किलोमीटर की यह कठिन यात्रा उन्होंने बैलगाड़ी, नाव, ऊँटगाड़ी से और पैसे बचाने के लिए पैदल तय की। 1879 में उनके पिता का देहान्त हो गया जिससे परिवार पर आर्थिक संकट के बादल छा गए। तथापि रुचिराम ने अपनी पढ़ाई जारी रखने का फैसला किया। 1884 में उन्होंने शासकीय महाविद्यालय, लाहौर से बी.ए. की परीक्षा पास की और पंजाब विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। रुचिराम वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के साथ-साथ तमाम अन्य गतिविधियों में भी भाग लेते थे।

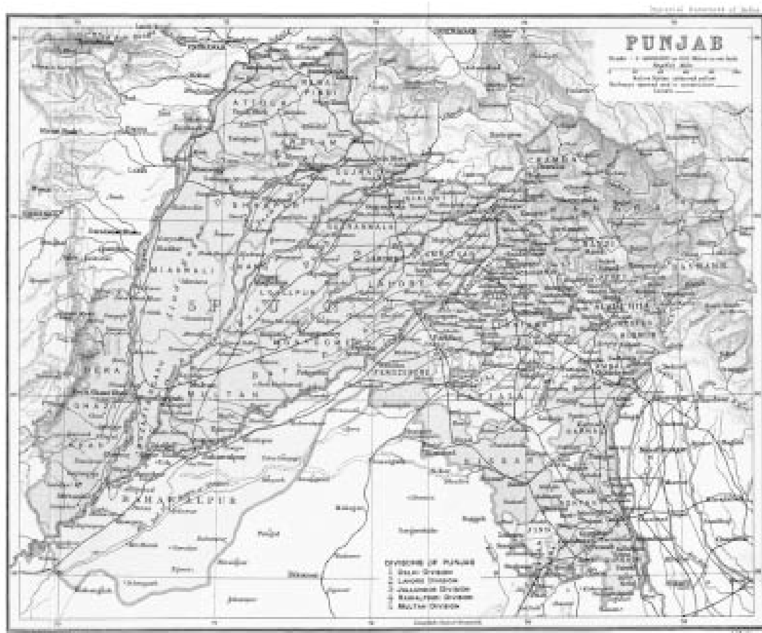
आर्थिक कारणों से रुचिराम ने कलकत्ता के मौसम विभाग में नौकरी कर ली। उनके प्रेरक शिक्षक प्रोफेसर ओमन ने उन्हें नौकरी के साथ-साथ कलकत्ता के प्रसिद्ध प्रेसिडेंसी कॉलेज से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने

की सलाह दी। कलकत्ता में रहते हुए रुचिराम ब्राह्म समाज की ओर आकर्षित हुए। साथ ही आशुतोष मुखर्जी, प्रफुल्ल चन्द्र रे और जगदीश चन्द्र बोस जैसे वैज्ञानिकों एवं समाज सुधारकों से भी उनका मेलजोल बढ़ा। कुछ समय बाद रुचिराम का तबादला मौसम विभाग के शिमला स्थित मुख्यालय में हुआ; यहाँ वे मौसम की दैनिक और मासिक रपट बनाते थे। एक बार उन्होंने बंगाल की खाड़ी में आने वाले तूफान की सटीक भविष्यवाणी की और बहुत से जहाज़ों को डूबने से बचा लिया।

1887 में साहनी ने शासकीय महाविद्यालय, लाहौर में सहायक प्राध्यापक के पद पर विज्ञान पढ़ाना शुरू किया। बाद में वे रसायन विभाग के प्रभारी बने। वे अपने व्याख्यानों को विज्ञान के मॉडलों और प्रयोगों द्वारा जीवन्त बनाते थे। इस तरह वे एक लोकप्रिय शिक्षक बन गए। विभागाध्यक्ष, जो एक अँग्रेज़ प्राध्यापक थे, साहनी की लोकप्रियता से ईर्ष्या महसूस करते थे। इसलिए उन्होंने रुचिराम को परेशान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अन्त में स्वाभिमानी साहनी ने नौकरी छोड़ दी और रसायन बनाने का एक कारखाना शुरू किया, जो ठीक से चल नहीं पाया। 1914 में साहनी डॉ. फाजन्स के साथ रेडियोधर्मिता के उभरते क्षेत्र में शोध करने के लिए जर्मनी चले गए। परन्तु वहाँ पहुँचने के तुरन्त बाद ही प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया और उन्हें इंग्लैण्ड भागना पड़ा।

इंग्लैण्ड में सौभाग्य से साहनी को विश्वविख्यात नाभिकीय भौतिक विज्ञानी लॉर्ड रदरफोर्ड और नील्स बोह्र के साथ काम करने का मौका मिला। उन्होंने रदरफोर्ड के साथ संयुक्त रूप से फोटो पायसीकरण में अल्फा कणों के प्रकीर्णन (scattering) पर दो शोधपत्र लिखे। युद्ध की वजह से इंग्लैण्ड में भी परिस्थिति खराब हो जाने के कारण उन्हें जल्द ही भारत वापस लौटना पड़ा।

लौटने के बाद साहनी ने पंजाब साइंस इंस्टिट्यूट के संयुक्त सचिव का पद सम्हाला। इस संस्था की स्थापना प्रो. ओमन ने की थी। संस्था का उद्देश्य लोकप्रिय भाषणों, प्रयोगों और लालटेन की स्लाइडों द्वारा पूरे पंजाब में विज्ञान का प्रचार–प्रसार करना था। उन दिनों पंजाब की सीमा दिल्ली से लेकर पेशावर तक फैली हुई थी। शिमला में काम करते समय

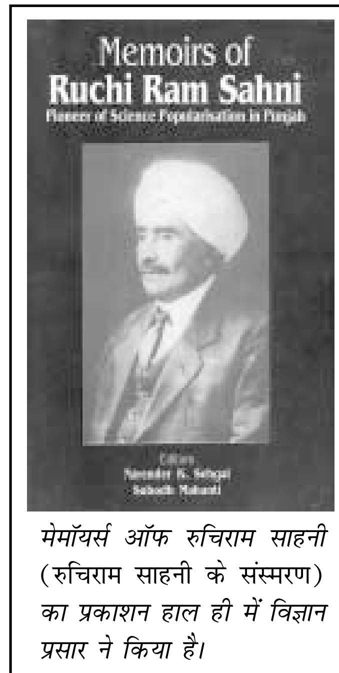


साहनी ने 'मौसम की भविष्यवाणी' पर कुछ व्याख्यान दिए थे। ये व्याख्यान आम लोगों को बहुत पसन्द आए। ग्रामीण और शहरी लोग, मज़दूर और दुकानदार सभी इन व्याख्यानों को सुनने के लिए भारी संख्या में इकट्ठे होते और दो आने का टिकट खरीदकर खुशी–खुशी विज्ञान का शो देखते। इस फीस से आने–जाने का कुछ खर्च निकल आता। साहनी के व्याख्यान साबुन निर्माण, 1880 से पहले लाहौर का पेयजल, स्वच्छ और दूषित हवा, मनुष्य की सेवा में विद्युत, इलेक्ट्रोप्लेटिंग, काँच निर्माण, पंजाब और उसकी नदियाँ (इसे वे मिट्टी के विशाल त्रि–आयामी नक्शे की सहायता से समझाते) जैसे सामान्य विषयों पर होते।



विज्ञान के ये लोकप्रिय व्याख्यान अक्सर

छोटे शहरों और गाँवों में भीड़ इकट्ठा करने के लिए त्योहारों और मेलों के समय आयोजित किए जाते थे। इन व्याख्यानों की वजह से लोगों की विज्ञान में रुचि बहुत बढ़ी। साहनी के व्याख्यानों के लिए जनता की भारी माँग रहती और उन्होंने विज्ञान के लोकव्यापीकरण पर कुल मिलाकर 500 से अधिक व्याख्यान दिए!



मेमॉयर्स ऑफ रुचिराम साहनी (रुचिराम साहनी के संस्मरण) *का प्रकाशन हाल ही में विज्ञान प्रसार ने किया है।*

विद्यालयों और महाविद्यालयों में प्रयोगशालाओं का अभाव साहनी को बहुत अखरता था। उस ज़माने में विज्ञान के सभी उपकरण महँगे दामों पर विदेशों से आयात किए जाते थे। 1888 में उन्होंने अपने ही घर में उच्च गुणवत्ता के भारत-निर्मित विज्ञान उपकरण बनाने का एक कारखाना स्थापित किया। इस काम के लिए उन्होंने रेलवे के एक प्रशिक्षित तकनीशियन अल्लाह बख्श को नियुक्त किया। यहाँ बने विज्ञान के उपकरणों को विद्यालयों में या तो मुफ्त या फिर लागत कीमत पर दिया जाता था, जिससे छात्रों और शिक्षकों में विज्ञान के प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़े। बाद में इस कारखाने में एक खराद-मशीन लगा दी गई और धीरे-धीरे इसकी ख्याति उच्च-कोटि के वैज्ञानिक उपकरण निर्माता के रूप में फैली।

1893 में प्रो. साहनी को जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता श्री नामजोशी ने एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए पुणे बुलाया। साहनी ने इस शानदार मौके का फायदा उठाते हुए अपने द्वारा बनाए सभी वैज्ञानिक उपकरणों की प्रदर्शनी लगाई। तीन लोगों की एक समिति को इस प्रदर्शनी पर अपनी सिफारिशें पेश करने को कहा गया। सदस्यों को यकीन ही नहीं हुआ कि ये सारे उपकरण लाहौर या भारत में ही कहीं बने हैं। उन्हें ये उपकरण

इंग्लैण्ड में निर्मित प्रतीत हुए। समिति को लगा कि पंजाब साइंस इंस्टिट्यूट ने बस उन पर भारतीय रोगन पोतकर उन्हें स्थानीय रूप दिया है! उन्हें यह विश्वास ही नहीं हुआ कि इतने उत्तम वैज्ञानिक उपकरण भारत में ही आधी कीमत पर बनाए जा सकते हैं।

1906 में कलकत्ता औद्योगिक प्रदर्शनी में विज्ञान के इन मॉडलों को स्वर्ण पदक मिला। प्रतियोगिता के निर्णायक मण्डल में प्रो. जगदीश चन्द्र बोस भी शामिल थे।

1918 में साहनी शासकीय महाविद्यालय, लाहौर में रसायन विज्ञान के वरिष्ठ प्राध्यापक के पद से सेवानिवृत्त हुए। बाद में उनका सम्पर्क महात्मा गाँधी से हुआ और वे सक्रिय रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन में जुड़े। वे लाहौर से प्रकाशित होने वाले अखबार द *ट्रिब्यून (The Tribune)* के संस्थापक न्यासी थे। वे दयाल सिंह कॉलेज और लाइब्रेरी के भी संस्थापक सदस्य थे।

प्रो. साहनी के तीन बेटे और पाँच बेटियाँ थीं। उनके पुत्र बीरबल साहनी प्रसिद्ध जीवाश्म विशेषज्ञ थे और रॉयल सोसायटी की फैलोशिप से नवाज़े जाने वाले पहले भारतीय वनस्पतिशास्त्री भी। अपनी आत्मकथा *सेल्फ रेविलेशंस ऑफ एन ऑक्टोजिनेरियन (Self-revelations of an Octogenarian)* में रुचिराम साहनी ने अपने जीवन के संघर्षों का विस्तृत वर्णन किया है। उनके पोते, प्रसिद्ध भू-वैज्ञानिक प्रो. अशोक साहनी, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के भूविज्ञान विभाग से सेवानिवृत्त हुए। उनकी पोती प्रो. मोहिनी मलिक ने आई.आई.टी., कानपुर में छात्रों की कई पीढ़ियों को गणितीय तर्कशास्त्र में गहन अन्तर्दृष्टि से प्रेरित किया। पंजाब में वैज्ञानिक पुनर्जागरण के लिए अथक कार्य करने वाले प्रो. रुचिराम साहनी का देहान्त 87 वर्ष की उम्र में 3 जून 1948 को बम्बई में हुआ।





डी.एन. वाडिया

(1883 - 1969)

दाराशाह नौशेरवान वाडिया एक पथप्रदर्शक भारतीय भूविज्ञानी थे जिन्होंने देश में भूवैज्ञानिक खोजों की नींव रखी। भारतीय भूविज्ञान के आरम्भिक दिनों के उनके प्रमुख अवलोकन एवं व्याख्याएँ आज भी सर्वमान्य हैं।

वाडिया का जन्म 23 अक्तूबर 1883 को सूरत में हुआ। वे सुप्रसिद्ध जहाज़ डिज़ाइनर और रॉयल सोसाइटी के फैलो के रूप में सम्मानित किए जाने वाले पहले भारतीय – अरदेसर खरसेदजी – के परिवार से सम्बन्ध रखते थे। वाडिया के पिता एक छोटे रेलवे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर के पद पर थे। वहाँ अच्छे स्कूल न होने के कारण वाडिया अपनी दादी के साथ सूरत में रहे और वहीं पढ़े। शुरू में उनकी पढ़ाई एक गुजराती स्कूल में हुई और फिर सर जे. जे. इंग्लिश स्कूल में। जब वे 11 वर्ष के थे तो उनका परिवार बड़ौदा आकर बस गया। यहाँ पर अपने बड़े भाई से उन्होंने विज्ञान के प्रति रुचि और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ग्रहण किया।





1903 में वाडिया ने वनस्पतिशास्त्र और जीव विज्ञान में बी.एससी. की डिग्री हासिल की। 1906 में एम.एससी. के दौरान उनके विषय जीव विज्ञान और भूविज्ञान थे। भूविज्ञान में रुचि पैदा करने का श्रेय उनके शिक्षक ए.एम. मसानी को जाता है; मसानी को प्रकृति से गहरा लगाव था और वे बड़ौदा महाविद्यालय में प्राकृतिक इतिहास के प्राध्यापक थे। बड़ौदा के कला व विज्ञान संग्रहालय में भूविज्ञान के नमूनों ने भूविज्ञान का अध्ययन करने में उनकी खूब मदद की।

1907 में वाडिया ने जम्मू स्थित प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज में पढ़ाना शुरू किया और 14 वर्ष तक भूविज्ञान के प्राध्यापक के पद पर काम किया। बाद में इस महाविद्यालय का नाम बदलकर महात्मा गाँधी महाविद्यालय रखा गया और वह जम्मू विश्वविद्यालय के अधीन हो गया। भूविज्ञान के साथ-साथ वाडिया अँग्रेज़ी भी पढ़ाते थे, जिससे पता चलता है कि अँग्रेज़ी पर उनकी ज़ोरदार पकड़ थी। जम्मू में रहते हुए वाडिया ने अपनी हरेक छुट्टी में हिमालय के पहाड़ों की सैर की और वहाँ के भूविज्ञान की जानकारी हासिल की। उन्होंने खनिज, पत्थर और जीवाश्म इकट्ठे किए जिनका उपयोग करके उन्होंने भूविज्ञान की पढ़ाई को रोचक बनाया।

वे अपने छात्रों को शिवालिक पर्वतमाला में घुमक्कड़ी तथा खोज–यात्राओं के लिए ले जाते थे। अपनी सधी हुई निगाह से वे बहुत–सी दुर्लभ वस्तुओं को खोज पाए। एक ऐसे ही परिभ्रमण के दौरान उन्होंने एक भीमकाय स्तनपायी जीव ''स्टेगेडॉन गणेशा'' (stegedon ganesa) के तीन मीटर लम्बे दाँत का जीवाश्म खोज निकाला। यह खोज बहुत महत्वपूर्ण साबित हुई। हिमालय पर्वतमाला की रचना और भूविज्ञान को समझने के लिए उन्होंने एक के बाद एक पर्वत शिखर पार किए। वाडिया ने उत्तर–पश्चिमी हिमालय में विविध कालखण्डों में चट्टान निर्माण के एक असामान्य क्रम की ओर दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। साथ ही उन्होंने नंगा पर्वत के इर्द–गिर्द स्थित पर्वतमाला में बनी घुटने के जोड़ (knee bend) जैसी एक अनूठी संरचना भी खोजी। हिमालय के अध्ययन को पूरी तरह समर्पित वाडिया ने अन्ततः देहरादून में हिमालय भूविज्ञान संस्थान स्थापित किया और उसके संस्थापक निदेशक (1968–69) भी रहे।

हिमालय के नंगा पर्वत क्षेत्र की भूवैज्ञानिक संरचना का रेखाचित्र



बाद में उनकी याद में संस्था का नाम बदलकर वाडिया हिमालय भूविज्ञान संस्थान कर दिया गया। वे राष्ट्रीय भूभौतिक अनुसन्धान संस्थान, हैदराबाद और गोवा स्थित राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान की स्थापना और गतिविधियों में गहराई से जुड़े हुए थे।

1921 में वाडिया ने प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज छोड़कर भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में सहायक संचालक का पद सम्हाला। उस समय उनकी उम्र मात्र 38 साल की थी और वे पहले भारतीय थे जो बिना किसी यूरोपीय डिग्री के भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में नियुक्त हुए। भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में काम करने से उन्हें उत्तर-पश्चिमी हिमालय में शोधकार्य का पूरा मौका मिला और उन्होंने यहाँ बहुत बुनियादी काम किया। आर.डी. वेस्ट ने वाडिया के काम के बारे में लिखा: "वाडिया हिमालय में जहाँ भी गए उन्होंने वहाँ शैल-विज्ञान की अनसुलझी समस्याओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला।"

वाडिया ने भूविज्ञान सम्बन्धी विविध विषयों पर लगभग 100 शोधपत्र और लम्बे निबन्ध लिखे। 1928 में उन्होंने एक्टीनोडॉन (Actinodon) की एक अच्छी तरह संरक्षित जीवाश्म-खोपड़ी खोज निकाली। इस खोज के माध्यम से हिमालय के कश्मीर क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण चट्टान संरचना के निर्माण का काल निश्चित किया जा सका। वे ताँबे, निकल, सीसे और जस्ते के सल्फाईड अयस्कों के अपार भण्डार खोजने में भी सफल रहे।

भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में काम करते समय वाडिया ने अपना एक वर्ष (1926-27) का शैक्षिक अवकाश ब्रिटिश म्यूज़ियम में बिताया जहाँ उन्होंने कश्मीर में खोजे गए रीढ़ वाले प्राणियों के जीवाश्मों पर शोध किया। इसी दौरान उन्होंने जर्मनी, ऑस्ट्रिया एवं चेकोस्लोवाकिया में स्थित भूविज्ञान से सम्बन्धित संस्थाओं का दौरा भी किया।

भारत में मृदा विज्ञान (soil science) की उपेक्षा पर वाडिया ने गौर किया और अपने लेखन के माध्यम से इस सन्दर्भ में कुछ उपाय भी सुझाए। 1935 में, एम.एस. कृष्णन और पी.एन. मुखर्जी के साथ मिलकर उन्होंने पहली बार *सॉएल मैप ऑफ इण्डिया* (भारत का मृदा नक्शा/ Soil Map

of India) संकलित किया। इसे भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण ने प्रकाशित किया और आगे इस प्रकार के अन्य मृदा नक्शों के लिए पथ प्रशस्त किया।

1938 में भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण से सेवानिवृत्ति के बाद वाडिया ने श्रीलंका (तत्कालीन सीलोन) सरकार में खनिज वैज्ञानिक का पद सम्हाला। उन्होंने श्रीलंका द्वीप के उत्तम भूवैज्ञानिक नक्शे तैयार करवाए तथा जल आपूर्ति, बाँध निर्माण और अन्य निर्माण परियोजनाओं के लिए भूगर्भीय अनुसन्धान भी किया। वाडिया ने कोलम्बो नगर का पहला भूवैज्ञानिक नक्शा तैयार किया।

वाडिया भारतीय खान ब्यूरो एवं परमाणु खनिज विभाग (1949-69) के संस्थापक निदेशक थे। वे एक ऐसी राष्ट्रीय नीति के पक्षधर थे जिसके अन्तर्गत देश में पानी, गैस और तेल समेत खनिज सम्पदा की बेहतर खोज, उपयोग एवं संरक्षण हो सके। उन्हें पुस्तकों से प्रेम था और उन्होंने भारतीय भूविज्ञान पर पहली आधिकारिक पाठ्यपुस्तक लिखी। इस पुस्तक को गौरवग्रन्थ का दर्ज़ा मिला और 1966 तक इसका छठा संस्करण बिक चुका था। इस पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए विख्यात भूवैज्ञानिक के.एस. वाल्दिया ने लिखा: "द *जियोलॉजी ऑफ इण्डिया (The Geology of India)* 1919 में मैकमिलन, लन्दन से प्रकाशित हुई, जिसमें सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप – पाकिस्तान, भारत, बांग्लादेश, म्यांमार और श्रीलंका – के भूविज्ञान का निचोड़ है। इसमें वाडिया के ज्ञान और गहरे शोध की साफ झलक मिलती है। इस गौरवग्रन्थ ने न केवल वाडिया को यशस्वी बनाया बल्कि उन्हें समूची दुनिया में भूविज्ञान पढ़ने वाले छात्रों की अनगिनत पीढ़ियों का गुरु भी बनाया।" वाडिया अपने काम में बहुत मेहनती और चुस्त थे और उन्होंने सारी ज़िन्दगी बहुत सादगी में गुज़ारी।

1945 में जवाहरलाल नेहरू की राष्ट्रीय सरकार ने वाडिया को भूविज्ञान सलाहकार के पद पर नियुक्त किया। वाडिया ने ही देश की खनिज नीति की नींव रखी। 1963 में भारत सरकार ने उन्हें भूविज्ञान का प्रथम राष्ट्रीय प्राध्यापक बनाया। भारत सरकार ने उन्हें 1958 में पद्म भूषण से सम्मानित किया। 1957 में वाडिया रॉयल सोसाइटी, लन्दन के फैलो

चुने गए। उन्हें अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया और कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधियाँ प्रदान कीं।

वाडिया ने विज्ञान पर कई उम्दा और लोकप्रिय लेख भी लिखे। उनमें *स्टोरी ऑफ ए स्टोन (Story of a Stone)* वाकई बेमिसाल है। यह एक पत्थर की आत्मकथा है। इस कहानी को पढ़ते हुए भूविज्ञान की जटिलताएँ सहजता से समझ में आ जाती हैं। इसे पढ़ने के बाद वाकई ऐसा लगता है कि पत्थर की भी ज़बान होती है। भारतीय भूविज्ञान की नींव रखने वाले इस महारथी का देहान्त 86 वर्ष की आयु में 15 जून 1969 को हुआ।





श्रीनिवास रामानुजन

(1887 - 1920)

हमारे देश में भास्कराचार्य के 800 साल बाद प्रथम श्रेणी का केवल एक गणितज्ञ पैदा हुआ। उनका नाम था रामानुजन और वे महाविद्यालय का प्रथम वर्ष भी उत्तीर्ण नहीं कर सके। भारत ने उन्हें जन्म दिया, भुखमरी, क्षयरोग और असामयिक मृत्यु दी। ब्रिटिश गणितज्ञ हार्डी को इस बात का पूरा श्रेय जाता है कि उन्होंने रामानुजन की योग्यता को पहचाना और उन्हें इंग्लैण्ड बुलाया, प्रशिक्षित किया और उनकी विलक्षण प्रतिभा को फलने-फूलने दिया।

— दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी

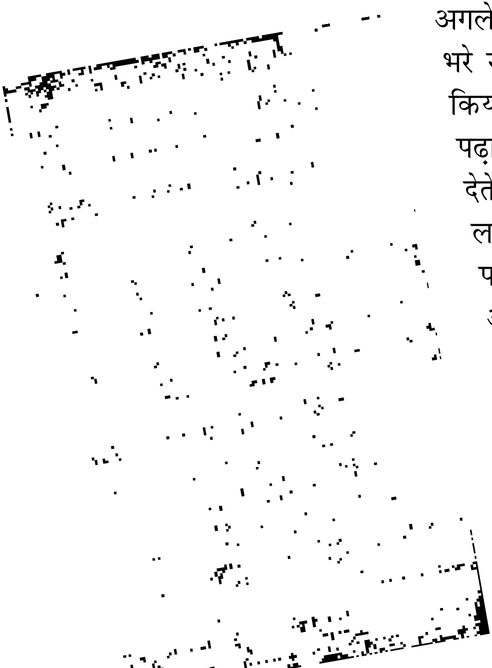


इस मेधावी भारतीय गणितज्ञ की जीवनी, जिन्होंने गरीब पारिवारिक पृष्ठभूमि और औपचारिक शिक्षा के अभाव में भी समूचे विश्व में ख्याति अर्जित की, पेशेवर गणितज्ञों के बीच एक किंवदन्ती की तरह है।

रामानुजन का जन्म 22 दिसम्बर 1887 को मद्रास से लगभग 400 किलोमीटर दूर स्थित इरोड में हुआ। उनके पिता साड़ी की एक दुकान में मुन्शी थे और उनका वेतन बहुत कम था। घर

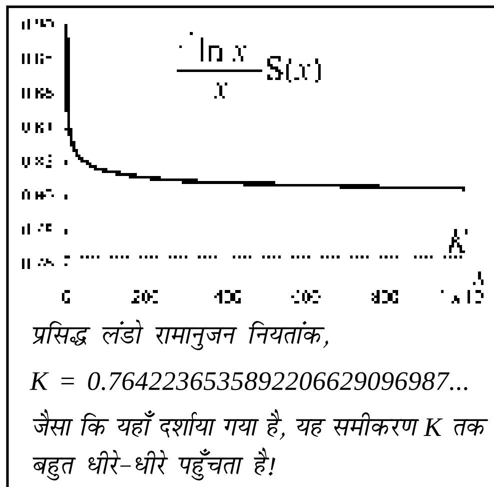
में गरीबी थी। रोज़मर्रा की चीज़ों का जुगाड़ कर पाना भी दुश्वार था। रामानुजन की माँ कोमलताम्मल मज़बूत इरादों की महिला थीं और अपने बेटे के उत्थान के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थीं। उनसे रामानुजन ने गहरी आध्यात्मिकता सीखी जो उनके जीवन का अभिन्न अंग रही। पास के शहर कुम्भकोणम में अपने ननिहाल में ही रामानुजन पले–बढ़े।

उनकी गणितीय प्रखरता 10 साल की उम्र में ही साफ दिखने लगी। वे न केवल आसानी से खुद ही गणित समझ लेते थे, बल्कि अपने से ऊँची कक्षाओं के छात्रों की शंकाओं का भी समाधान करते थे। हाईस्कूल में उन्होंने जी.एस. कार की पुस्तक *ए सिनॉप्सिस ऑफ एलिमेंट्री रिज़ल्ट्स इन मैथमेटिक्स* (*A Synopsis of Elementary Results in Mathematics*/ गणित में प्राथमिक परिणामों का सारांश) का अध्ययन किया। आगे चलकर यह पुस्तक गणित की दुनिया में काफी प्रसिद्ध हुई, क्योंकि इसने पद्धति समझाए बगैर अपने हल लिखने की रामानुजन की अद्वितीय शैली को प्रभावित किया था। उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में उत्तीर्ण होने की उम्मीद में कुछ समय एक महाविद्यालय में दाखिला भी लिया। परन्तु गणित में मगन रहने के कारण उन्होंने बाकी विषयों पर ध्यान नहीं दिया और वे परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए।



अगले कुछ वर्ष रामानुजन के लिए विपत्तियों से भरे रहे। उन्होंने छात्रों को ट्यूशन देने का प्रयास किया पर इसमें भी वे असफल रहे। गणित पढ़ाते समय वे कई चरण आगे की छलाँग लगा देते और उसकी उच्चस्तरीय व्याख्या करने लगते। छात्र उनकी विद्वत्ता का तो आदर करते परन्तु पढ़ाया गया उन्हें ज़रा भी समझ में नहीं आता। ऐसी घटनाओं ने रामानुजन को सारी ज़िन्दगी परेशान किया। उनकी मौलिकता ज़्यादातर गणितज्ञों की समझ से परे थी। वे हमेशा इस दुविधा में रहते थे कि रामानुजन सच में एक मेधावी गणितज्ञ हैं या फिर कोई धूर्त बहुरूपिया!

उनकी प्रसिद्ध कॉपियों की शुरुआत, जिनमें वे गणित के सूत्र लिखते थे, इसी काल में हुई। बाद में ये *नोटबुक्स ऑफ रामानुजन* (*Notebooks of Ramanujan*/ रामानुजन की कापियाँ) के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। रामानुजन का अंकों से विशिष्ट लगाव था। हर परिमेय संख्या उनकी अभिन्न मित्र थी। ठोस प्रमाण देने की उन्हें कभी ज़रूरत महसूस नहीं हुई, जो पाश्चात्य गणितज्ञों की विशिष्टता थी। उनकी मेधा एक सहज-ज्ञान युक्त मेधा थी। वे एक ऊँची मानसिक छलाँग के बाद सिर्फ प्रश्न का अन्तिम हल लिखते थे। मगर उस हल के चरणों को लिपिबद्ध करने की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। गणितज्ञ दो पीढ़ियों से उनके प्रतिपादनों के हल खोज रहे हैं। आज भी वे इस कार्य में पूरी तरह सफल नहीं हो सके हैं।



प्रसिद्ध लंडो रामानुजन नियतांक,

K = 0.76422365358922066290969 87...

जैसा कि यहाँ दर्शाया गया है, यह समीकरण K तक बहुत धीरे-धीरे पहुँचता है!

रामानुजन अब 20 साल के हो गए थे। रिश्तेदारों की निगाह में "वे आलसी थे और अपनी ही दुनिया में खोए रहते थे"। रामानुजन की माँ ने उन्हें 'ज़िम्मेदारी' का बोध कराने के लिए पुराना भारतीय तरीका अपनाया - उन्होंने रामानुजन की शादी करने का फैसला किया! उन दिनों बड़ों का आदेश मानने का रिवाज़ था, इसलिए रामानुजन ने 14 जुलाई 1909 को अपने से 11 साल छोटी जानकी अम्मल से विवाह किया। शादी के बाद रामानुजन परिवार चलाने के उद्देश्य से नौकरी खोजने के लिए मजबूर हो गए। 1912 में उन्हें मद्रास पोर्ट ट्रस्ट के लेखा





विभाग में क्लर्क की नौकरी मिली। वहाँ के प्रमुख लेखापाल नारायण राव एक गणितज्ञ थे। पोर्ट ट्रस्ट के अध्यक्ष सर फ्रांसिस स्प्रिंग और नारायण राव दोनों ने रामानुजन की गणितीय प्रतिभा में खूब दिलचस्पी ली।

रामानुजन ने अपने कार्य को मूल्यांकन के लिए इंग्लैण्ड के गणितज्ञों को भेजा। पर रामानुजन के पास कोई औपचारिक डिग्री नहीं थी, इसलिए किसी ने भी उनके काम को गम्भीरता से नहीं लिया और आम तौर पर उनके पत्रों की उपेक्षा की। 1913 में रामानुजन ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कॉलेज के प्रख्यात गणितज्ञ जी.एच. हार्डी को एक रोचक पत्र लिखा। पत्र में रामानुजन ने बिना किसी प्रमाण के 120 गणितीय प्रमेय हार्डी को भेजीं। “मैंने इस तरह का कुछ भी पहले कभी नहीं देखा था,” हार्डी ने बाद में लिखा। “यह जानने के लिए उनकी एक झलक ही काफी थी कि वे किसी अव्वल दर्जे के गणितज्ञ की ही लिखी हुई हैं। उनका सच होना अनिवार्य था, क्योंकि अगर वे सच नहीं होतीं तो उन्हें महज़ कल्पना द्वारा रच पाना असम्भव था।” हार्डी पर रामानुजन के पत्र का गहरा असर हुआ और उनके ही प्रयासों से रामानुजन आगे की पढ़ाई के लिए केम्ब्रिज पहुँचे।

शुरू में रामानुजन के धार्मिक परिवार ने उनके सात समन्दर पार करके विदेश जाने पर आपत्ति जताई। कुछ लोगों के अनुसार रामानुजन की माँ को एक सपना आया जिसमें नामगिरी देवी ने उन्हें अपने बेटे के रास्ते में रोड़ा नहीं बनने का आदेश दिया। उसके बाद परिवार का मिज़ाज नरम

विकासशील देशों के युवा गणितज्ञों को प्रोत्साहित करने के लिए इंटरनेशनल सेंटर फॉर थ्योरेटिकल फिज़िक्स (International Centre for Theoretical Physics) ने रामानुजन के नाम पर एक पुरस्कार स्थापित किया है। पुरस्कार इंटरनेशनल मैथमेटिकल यूनियन (International Mathematical Union) के सहयोग से दिया जाता है। यही संस्था पुरस्कार देने वाली समिति के सदस्यों को मनोनीत करती है।

पड़ा और 1914 में रामानुजन केम्ब्रिज पहुँचे। वहाँ उनके अनुसन्धान ने ज़ोर पकड़ा और उन्होंने संख्या सिद्धान्त, अनन्त श्रेणी और असीमित समाकल (indefinite integrals) आदि विषयों में अनेक रोचक हल प्रकाशित किए। 1917 में उन्होंने हार्डी के साथ मिलकर पूर्णांक के विभक्तिकरण के एक सूत्र की रचना की। हार्डी–रामानुजन नाम से प्रसिद्ध यह सूत्र गणित की दुनिया में एक असाधारण सूत्र माना जाता है। रामानुजन अपने काम में रहस्यमयी चिह्नों और सूत्रों का समावेश करते थे जो उसे विशिष्ट बनाता है। उनका मानना था कि नामगिरी देवी सपने में उनके काम को दिशा और प्रेरणा देती हैं।

1916 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने रामानुजन को बैचलर ऑफ साइंस की डिग्री प्रदान की और 1919 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो बनाया गया। विशुद्ध शाकाहारी होने के कारण रामानुजन अपना भोजन खुद पकाते थे। शायद काम के अत्यधिक दबाव और ठीक भोजन न मिलने के कारण रामानुजन को इंग्लैण्ड में क्षयरोग हो गया और उन्हें अस्पताल में दाखिल होना पड़ा। हार्डी उनसे मिलने गए और उन्होंने कहा, "मुझे लगता है कि मेरी टैक्सी का नम्बर 1729 था, जो मुझे कुछ नीरस जान पड़ता है।" रामानुजन ने जवाब दिया, "नहीं हार्डी! यह एक अत्यन्त रोचक अंक है। यह वह सबसे छोटी संख्या है जिसे दो घन–संख्याओं के जोड़ द्वारा दो अलग–अलग प्रकार से लिखा जा सकता है।" आजकल इसे टैक्सी–कैब प्रश्न के नाम से जाना जाता है, जिसका हल यह समीकरण है:

$$i^3 + j^3 = k^3 + l^3$$

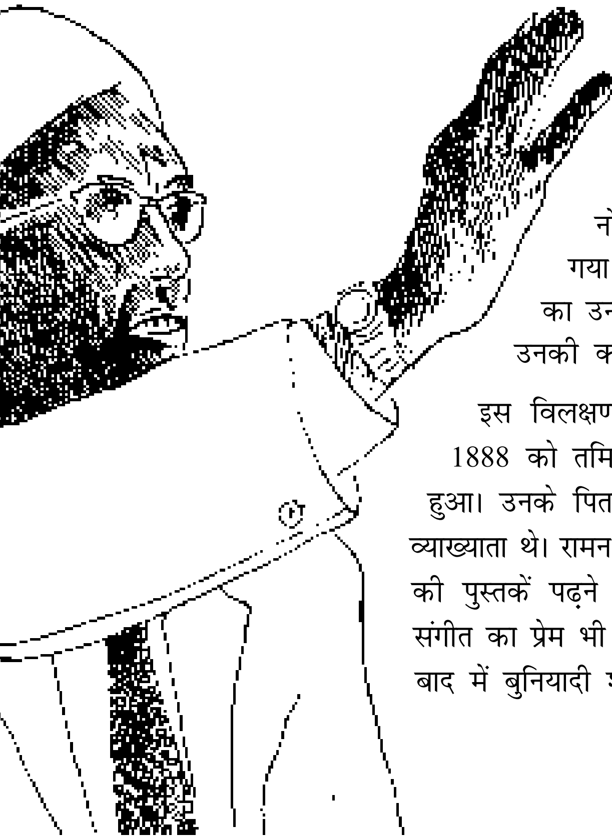
इन संख्याओं को अब 'रामानुजन संख्याओं' के नाम से जाना जाता है। कई प्रख्यात गणितज्ञों ने रामानुजन की कापी से उनके कार्य को समझने का प्रयास किया है।

1919 में रामानुजन भारत वापस लौट आए और अगले वर्ष कुम्भकोणम में उनका देहान्त हो गया। उनके काम को बहुत सराहा गया। 1962 में भारत सरकार ने उनकी 75वीं वर्षगाँठ पर एक डाक टिकट भी जारी किया।



सी.वी. रामन
(1888 - 1970)

आज वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में अन्धाधुन्ध पूँजी निवेश और परिष्कृत उपकरणों का बोलबाला है, परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रयोगशालाओं में सबसे महँगा और कीमती उपकरण आज भी मनुष्य का दिमाग है! इस बात की सच्चाई का प्रमाण हमें सी.वी. रामन के जीवन से मिलता है। वे अकेले ऐसे वैज्ञानिक हैं जिन्हें भारत में किए गए काम के लिए नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। जिन अल्पविकसित उपकरणों का उन्होंने अपने शोध में उपयोग किया उनकी कीमत 200 रुपए से भी कम थी!



इस विलक्षण वैज्ञानिक का जन्म 7 नवम्बर 1888 को तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली नगर में हुआ। उनके पिता भौतिक विज्ञान और गणित के व्याख्याता थे। रामन को बचपन से ही विभिन्न विषयों की पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। उन्हें अपने पिता से संगीत का प्रेम भी मिला, जिसकी प्रकृति पर उन्होंने बाद में बुनियादी शोध किया।



रामन की पूरी ज़िन्दगी की तरह उनकी शादी भी नाटकीयता से भरी थी। अपने एक रिश्तेदार के घर पर उनकी भेंट 13 वर्षीय लोकसुन्दरी से हुई और पहली नज़र में ही वे उन पर फिदा हो गए। एक क्रान्तिकारी अन्दाज़ में उन्होंने खुद ही अपने ब्याह का बन्दोबस्त किया। रामन की पहली भेंट के समय लोकसुन्दरी कर्नाटक शैली में एक गीत गा रही थीं, जिसके बोल थे – रामा, नी समानम् एवरू? (हे राम, कौन तुम्हारे समान है?)

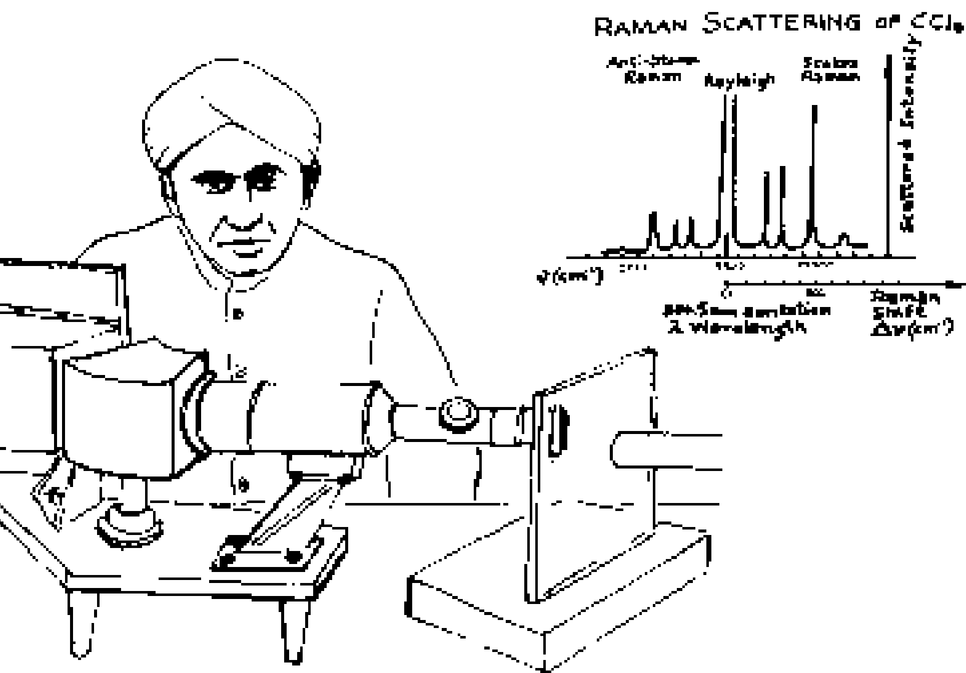
रामन की प्रारम्भिक शिक्षा विशाखापट्टनम में हुई। उन दिनों आयु की पाबन्दी न होने के कारण उन्होंने 11 वर्ष की उम्र में ही हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी! 1902 में रामन ने प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया और भौतिक विज्ञान में प्रथम स्थान तथा स्वर्ण पदक के साथ 1904 में बी.ए. पास किया। 1907 में एम.ए. की परीक्षा में वे सर्वश्रेष्ठ छात्र घोषित किए गए। रामन की कद–काठी छोटी थी, जिसने उनके लिए अनेक मुश्किलें खड़ी कीं। अक्सर उनके शिक्षक पूछते, "क्या तुम सच में इस कक्षा के छात्र हो?" महाविद्यालय की पढ़ाई समाप्त होने के बाद रामन को उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने की सलाह दी गई। परन्तु मद्रास में सिविल सर्जन ने जब उनकी जाँच की तो उन्हें लगा कि रामन का छोटा शरीर इंग्लैण्ड का कड़क मौसम बर्दाशत नहीं कर पाएगा। भारत में रहकर काम करने के लिए रामन सारी ज़िन्दगी उस डॉक्टर के ऋणी रहे।

रामन ने भौतिक विज्ञान में एम.ए. करने के बाद क्या किया? उन दिनों विज्ञान पढ़ने वालों के लिए बहुत कम नौकरियाँ थीं। अन्य विकल्प खुले न होने के कारण रामन को कलकत्ता में वित्त विभाग में शासकीय नौकरी करनी पड़ी!

वित्त विभाग में नौकरी करते हुए भी भौतिकी में रामन की रुचि लगातार

बनी रही। उन्होंने घर में ही एक छोटी प्रयोगशाला बनाई और वहीं प्रयोग करने लगे। एक दिन काम से लौटते समय उन्हें एक साईनबोर्ड दिखाई दिया जिस पर इण्डियन एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑफ साइंस (Indian Association for Cultivation of Science) लिखा था। कहा जाता है कि रामन चलती ट्राम से कूदकर वहाँ पहुँचे जहाँ उनका स्वागत अमृतलाल सरकार ने किया। इनके पिता महेन्द्रलाल सरकार ने भारतीय विज्ञान का प्रसार करने के लिए 1876 में इस संस्था की स्थापना की थी। अब रामन शाम को अपने दफ्तर से लौटकर वहाँ की प्रयोगशाला में काम करने लगे। जल्द ही वे उच्च कोटि के वैज्ञानिक शोधपत्र लिखने लगे जिनकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित हुआ।

1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति आशुतोष मुखर्जी ने रामन को विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान की तारकनाथ पालित चेयर स्वीकार करने का निमंत्रण दिया। रामन फूले नहीं समाए। वित्त विभाग के बहीखातों से बरी होकर अब वे अपने प्रिय विषय पर शोध करने के लिए मुक्त थे।



1921 में एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए रामन विदेश गए। उनकी यह समुद्री यात्रा भौतिक विज्ञान के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। वे समुद्र के गहरे नीले पानी को निहारते रहते। सागर का पानी नीला क्यों दिखता है? क्या पानी आसमान के प्रतिबिम्ब के कारण नीला दिखता है? क्या कोई और कारण है? रामन को एहसास हुआ कि सागर का नीलापन पानी और सूर्य के प्रकाश के अन्तर्सम्बन्ध के कारण है। इस तरह जब जहाज़ के अन्य मुसाफिर ताश और बिंगो के खेलों में मस्त थे, तब रामन वहाँ एक जेबी वर्णक्रममापी (spectrometer) से प्रयोगों में मगन थे और उन्होंने अलग-अलग माध्यमों में प्रकाश के प्रकीर्णन पर एक शोधपत्र लिख डाला।

भारत लौटने के बाद रामन ने इस विषय पर गम्भीरता से शोध शुरू किया। उन्होंने प्रकाश की किरणों को भिन्न-भिन्न द्रवों से गुज़ारा और उनके प्रभाव का अध्ययन किया। अन्ततः 1928 में उन्होंने सिद्ध किया कि जब किसी एक रंग का प्रकाश किसी द्रव से गुज़रता है तो प्रकाश के कण और द्रव के परमाणु एक-दूसरे पर क्रिया करते हैं और प्रकाश को बिखेर देते हैं। बाहर निकलने वाली प्रकाश-किरण का रंग आने वाली किरण से भिन्न होता है। बाहर निकलने वाली यह किरण, आने वाली किरण की तुलना में, ऊँचे और नीचे दोनों स्तरों की ऊर्जा की ओर मुड़ती है। यही वह सुप्रसिद्ध 'रामन प्रभाव' है जिस पर आगे चलकर रामन को नोबल पुरस्कार मिला। उनकी खोज से विश्व स्तर पर वैज्ञानिक शोध में तेज़ी आई। इससे अलग-अलग पदार्थों की संरचना के अध्ययन में बहुत मदद मिली।



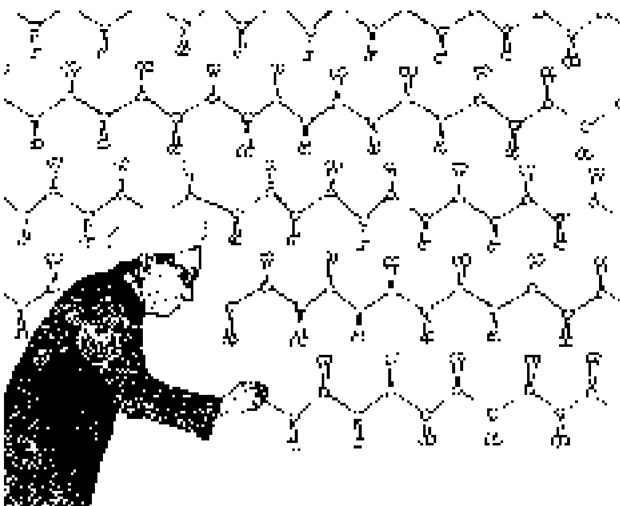
इस बुनियादी शोध के बाद रामन पर सम्मानों की झड़ी लग गई। अरनेस्ट रदरफोर्ड ने 'रामन प्रभाव' की खोज की घोषणा रॉयल सोसाइटी में की, जिसके बाद ब्रिटिश सरकार ने रामन को नाइटहुड

(Knighthood) के सम्मान से नवाज़ा। 10 दिसम्बर 1930 को उन्हें दुनिया के सर्वोच्च पुरस्कार नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। विज्ञान के लिए नोबल पुरस्कार पाने वाले रामन पहले एशियाई और पहले अश्वेत व्यक्ति थे। उनसे पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर को साहित्य के क्षेत्र में यह सम्मान मिला था। रामन के बाद उनके भानजे सुब्रह्मण्यन चन्द्रशेखर को लगभग पचास वर्ष बाद 1983 में नोबल पुरस्कार मिला।

सदियों तक विदेशी ताकतों द्वारा शासन किए जाने के बाद इस अन्तर्राष्ट्रीय गौरव से भारतीय वैज्ञानिक समाज का आत्म-सम्मान बुलन्द हुआ। एक भारतीय वैज्ञानिक को, जिसने सारा शोध भारत में ही रहकर किया हो, दुनिया का सबसे बड़ा सम्मान मिलना सच में बहुत गर्व की बात थी।

जुलाई 1933 में रामन टाटा विज्ञान संस्थान (वर्तमान में भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर) के प्रथम भारतीय निदेशक नियुक्त हुए। अगले 15 वर्ष रामन ने इस संस्था में गुज़ारे और इस दौरान उन्होंने वहाँ विश्व स्तर का भौतिक विज्ञान विभाग स्थापित किया। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक वैज्ञानिकों को प्रेरणा और प्रशिक्षण दिया। उन्होंने क्ष-किरण विवर्तन (X-ray diffraction) और अपने प्रिय विषय प्रकाश एवं पदार्थ के बीच अन्तर्सम्बन्धों पर काम शुरू किया।

रामन की विज्ञान के प्रचार-प्रसार में गहरी रुचि थी। वे एक ओजस्वी वक्ता थे और उन्होंने विज्ञान के भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक भाषण दिए। उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में काम करने के आनन्द तथा समाज के उत्थान में उसकी मुख्य भूमिका पर बल दिया। अपने लोकप्रिय व्याख्यानों में वे गूढ़ विषयों को सरल और अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत करते थे, जिसे वे 'प्रदर्शन' कहते थे। वे दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देते थे। अपने व्याख्यान में वे अक्सर कोई जीवन्त



वैज्ञानिक प्रयोग करके दिखाते थे। उनका व्याख्यान "आसमान नीला क्यों होता है?" आज भी वैज्ञानिक भावना को सम्प्रेषित करने और उसकी पद्धति की एक अनूठी मिसाल है। रूखे तथ्यों या सूत्रों को रटकर सीखने के विषय के रूप में प्रस्तुत न करके, वे विज्ञान को चरणबद्ध प्रश्नों की एक शृंखला के रूप में पेश करते थे। इस तरह वे सुव्यवस्थित तार्किकता के माध्यम से प्रकृति की कार्यप्रणाली को समझाते थे।

वे भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के संस्थापक सदस्य थे।

रामन ने वाद्ययंत्रों के ध्वनि–विज्ञान (acoustics) पर भी काम किया। अध्यारोपण गतियों के आधार पर धनुष–डोर से बजने वाले वाद्ययंत्रों के तिर्यक् कम्पन (transverse vibration of bowed strings on the basis of superposition velocities) का सिद्धान्त भी उन्होंने विकसित किया। भारतीय तालवाद्य तबला और मृदंगम् की ध्वनि के समस्वरीय स्वभाव पर शोध करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे।

1943 में उन्होंने एक कम्पनी शुरू की जिसका नाम था त्रावणकोर केमिकल एंड मेन्यूफैक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड।

1948 में सेवानिवृत्ति से पहले रामन ने बैंगलोर में खुद अपने शोध संस्थान रामन शोध संस्थान (Raman Research Institute) की स्थापना की। इस संस्था की विशेषता यह थी कि उसकी स्थापना के लिए सारी पूँजी व्यक्तिगत दाताओं से आई। उन्होंने 1970 तक अपना वैज्ञानिक शोधकार्य जारी रखा। हमेशा की तरह रामन शोध संस्थान में उन्होंने 2 अक्तूबर 1970 को महात्मा गाँधी मेमोरियल व्याख्यान दिया। इसके बाद वे बीमार पड़ गए और 21 नवम्बर को उनका देहान्त हो गया।

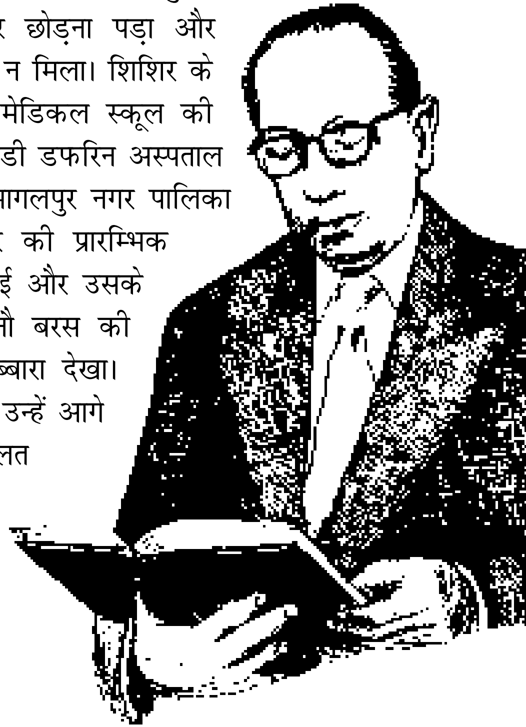


शिशिर कुमार मित्रा

(1889-1963)

शिशिर कुमार मित्रा ने भारत में रेडियो विज्ञान की नींव रखी। आयन–मण्डल (ionosphere) पर शोधकार्य के लिए भी वे जाने जाते हैं।

शिशिर कुमार का जन्म 24 अक्तूबर 1889 को कलकत्ता में हुआ। उनके पिता जयकृष्ण एक विद्यालय में शिक्षक थे और माँ शरतकुमारी चिकित्सक थीं। जयकृष्ण ने परिवार की रज़ामन्दी के बिना शरतकुमारी से विवाह किया था। इसलिए उन्हें घर छोड़ना पड़ा और पारिवारिक सम्पत्ति में कोई हिस्सा भी न मिला। शिशिर के जन्म के समय उनकी माँ कैम्पबेल मेडिकल स्कूल की छात्रा थीं। 1989 में शरतकुमारी को लेडी डफरिन अस्पताल में नौकरी मिली और जयकृष्ण को भागलपुर नगर पालिका में क्लर्क की नौकरी मिली। शिशिर की प्रारम्भिक पढ़ाई भागलपुर ज़िला विद्यालय में हुई और उसके बाद वे टी.एन.जे. कॉलेज में पढ़े। नौ बरस की उम्र में उन्होंने गर्म हवा का एक गुब्बारा देखा। इसका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हें आगे विज्ञान पढ़ने की प्रेरणा मिली। ललित कला (फाइन आर्ट्स) की परीक्षा से ठीक पहले उनके पिता का देहान्त



हो गया। उससे परिवार पर बड़ा संकट आया, परन्तु शिशिर की माँ ने बहुत हिम्मत और धैर्य से शिशिर का लालन–पालन किया।

आर्थिक समस्याओं के बावजूद शिशिर की माँ ने उन्हें कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज से बी.एससी. करने के लिए प्रोत्साहित किया। खुशकिस्मती से यहाँ उन्हें दो महान वैज्ञानिक शिक्षक के रूप में मिले। ये थे जगदीश चन्द्र बोस और प्रफुल्ल चन्द्र रे। शिशिर ने जब बोस द्वारा निर्मित कम लागत के उपकरणों को देखा तो वे उनकी ओर बहुत आकर्षित हुए और उन्होंने शिक्षण और शोध का पेशा अपनाने का निश्चय किया। प्रावीण्य सूची में प्रथम स्थान अर्जित कर 1912 में उन्होंने एम.एससी. की परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ समय के लिए उन्होंने बोस के साथ शोधकार्य किया; परन्तु परिवार चलाने के लिए उन्हें तुरन्त एक नौकरी की ज़रूरत थी। इसलिए उन्होंने शुरुआत में कुछ सालों तक भागलपुर के टी.एन.जे. कॉलेज और फिर बांकुड़ा क्रिश्चियन कॉलेज में अध्यापन किया। 1914 में उनका विवाह लीलावती देवी से हुआ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन उप–कुलपति आशुतोष मुखर्जी उन दिनों विज्ञान में स्नातकोत्तर शिक्षण एवं शोध शुरू करने के लिए प्रयासरत थे। 1916 में वे यूनिवर्सिटी साइंस कॉलेज स्थापित करने में सफल हुए और वहाँ उन्होंने मित्रा समेत अनेक प्रतिभावान विद्वानों को भौतिकी विभाग में काम करने के लिए आमंत्रित किया। इन दिग्गजों की सूची में सी.वी. रामन, सत्येन्द्र नाथ बोस और मेघनाद साहा भी शामिल थे। मित्रा ने रामन के मार्गदर्शन में प्रकाश के व्यतिकरण (interference) और विवर्तन (diffraction) पर शोध शुरू किया। केवल तीन सालों में ही उन्होंने अपना शोधग्रन्थ पूरा किया और 1919 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से डी.एससी. की डिग्री प्राप्त की।

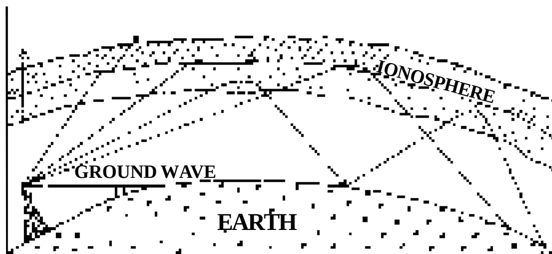
उसके तुरन्त बाद वे उच्च स्तरीय अनुसन्धान करने के लिए विदेश गए। शुरू में उन्होंने चार्ल्स फॅब्री के साथ पेरिस के सोरबॉन विश्वविद्यालय में काम किया और 1923 में डी.एससी. की दूसरी डिग्री हासिल की। उसके बाद उन्होंने मादाम क्यूरी के साथ रेडियम इंस्टिट्यूट में काम किया। कुछ अवधि के लिए उन्होंने नैंसी विश्वविद्यालय के इंस्टिट्यूट ऑफ फिज़िक्स



में प्रो. गटन के साथ काम किया। यहाँ पर मित्रा की रुचि रेडियो तरंगों और उनके उपयोग में जगी। उन्होंने भविष्य में नए उभरते रेडियो शोध के क्षेत्र में काम करने की ठानी। तब तक यह विषय किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता था, इसलिए उन्होंने आशुतोष मुखर्जी से 'वायरलैस' (बेतार) विषय को एम.एससी. के पाठ्यक्रम में शामिल करने का आग्रह किया और साथ ही प्रायोगिक कार्य करने हेतु एक प्रयोगशाला स्थापित करने के लिए भी कहा।

आशुतोष मुखर्जी ने मित्रा के प्रस्ताव का स्वागत किया और उनसे भारत वापस लौटकर इस पर विस्तार से काम करने का अनुरोध किया। 1923 में स्वदेश लौटने के बाद मित्रा ने खैरा प्रोफेसर ऑफ फिज़िक्स के पद पर काम किया। इस प्रकार भारत में रेडियो इलेक्ट्रॉनिकी शोध का सूत्रपात हुआ – शिक्षण, शोधकार्य और प्रयोगशालाओं की स्थापना पर तेज़ी से काम शुरू हुआ। जल्द ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक विश्वस्तरीय रेडियो शोध केन्द्र विकसित हुआ जो आज इंस्टिट्यूट ऑफ रेडियो फिज़िक्स एंड इलेक्ट्रॉनिक्स (Institute of Radio Physics and Electronics) के नाम से जाना जाता है।

रेडियो का असली विज्ञान तो आयन–मण्डल की खोज के बाद ही शुरू हुआ। मित्रा ने आयन–मण्डल का गहन अध्ययन किया, जो लम्बी दूरी के रेडियो सम्प्रेषण के लिए बेहद ज़रूरी है। यह वातावरण के ऊपरी वायुमण्डल का वह क्षेत्र है जो लघु रेडियो तरंगों को परावर्तित करता है और इसी वजह से पृथ्वी की वक्र सतह पर सम्प्रेषण सम्भव हो पाता है। इण्डियन स्पेस ब्रॉडकास्टिंग सर्विस (Indian Space Broadcasting Service)



के कलकत्ता केन्द्र के मध्यम तरंग ट्रांसमीटर का उपयोग कर मित्रा ने पहली बार आयन–मण्डल में स्थित 'ई–क्षेत्र' के प्रमाण जुटाए। मित्रा के अनुसार रात के आकाश में दिखने वाली दीप्ति का कारण एफ–क्षेत्र में स्थित आयन हैं। इस प्रकाश के कारण ही रात का आकाश स्याह–काला न दिखकर थोड़ा मटमैला दिखता है। उन्होंने कलकत्ता के ऊपर स्थित आयन–मण्डल की परतों का अध्ययन कर कई शोधपत्र लिखे। उन्होंने सरल उपकरणों का उपयोग कर आयन–मण्डल के उत्कृष्ट नक्शे बनाए। उस ज़माने में आयन–मण्डलीय रसायन विज्ञान शैशवावस्था में था, इसके बावजूद मित्रा ने ओज़ोन के निर्माण और उसके क्षय की प्रक्रिया का विस्तृत अध्ययन किया।

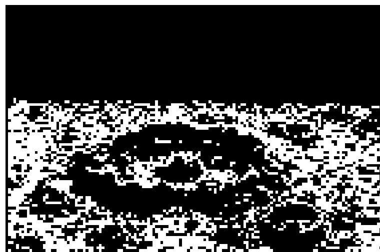
मित्रा ने आयन–मण्डल पर एक अनूठी पुस्तक लिखी – द *अपर एटमोस्फियर (The Upper Atmosphere)*। विदेशी प्रकाशक इस पुस्तक को छापने से कतराते रहे क्योंकि उन्हें लगा कि यह किताब पहले से स्थापित विदेशी पुस्तकों के साथ प्रतिस्पर्धा करेगी। पर जब 1947 में इस पुस्तक को एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया तो उसकी 2000 प्रतियाँ केवल तीन वर्ष में बिक गईं। रेडियो संचार, आयन–मण्डल, उच्च वायुमण्डल भौतिकी, भू–चुम्बकत्व और अन्तरिक्ष विज्ञान के छात्रों की कई पीढ़ियों ने प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में इस पुस्तक का उपयोग किया है। मित्रा ने एक नई पहल करते हुए आयन–मण्डल को एक विशाल परिदृश्य का हिस्सा माना था जो पृथ्वी, सूर्य और वायुमण्डल को एक–दूसरे के साथ जोड़ता है।

1955 में उनकी पुस्तक का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ। जब 1957 में स्पूतनिक–1 का प्रक्षेपण हुआ तब सोवियत वैज्ञानिकों को उपग्रहों के जीवनकाल का अनुमान लगाने के लिए मित्रा की पुस्तक द *अपर एटमॉस्फियर* में ही वातावरण के सबसे उपयुक्त नमूने मिले।

विश्वविद्यालय से नवम्बर 1955 में सेवानिवृत्ति के बाद मित्रा वहाँ अवकाशप्राप्त प्राध्यापक की हैसियत से काम करते रहे। बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री बिधान चन्द्र राय के आग्रह पर उन्होंने पश्चिम बंगाल के उच्च माध्यमिक शिक्षा मण्डल को पुनर्गठित किया और उसे एक कुशल और अनुशासित संगठन का रूप दिया। शिक्षा मण्डल का बोझिल काम सम्हालते हुए भी उन्होंने अपना शोधकार्य और संस्थान की देखभाल जारी रखी। मित्रा ने अनेक कुशल वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित किया, जिन्होंने बाद में पथप्रदर्शक कार्य किया। इनमें से कुछ प्रमुख नाम हैं – प्रो. ए.पी. मित्रा, सिग्नस–ए (CYGNUS-A) नामक दोहरी रेडियो आकाशगंगा के खोजकर्ता एम.के. दासगुप्ता (रेडियो खगोल विज्ञानी) और प्रो. जे.एन. भार।

पत्नी और बड़े पुत्र डॉ. अशोक मित्रा के असामयिक निधन के कारण मित्रा का पारिवारिक जीवन दुखी रहा। पुत्र के निधन से उन्हें गहरा धक्का लगा। किन्तु उसके तुरन्त बाद उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। उन्हें सरकार ने राष्ट्रीय प्राध्यापक भी बनाया। वे अपना ज़्यादातर समय घर पर ही लिखते–पढ़ते हुए गुज़ारते। हर शाम वे अपने घर के पास स्थित क्लब में मनोरंजन के लिए जाते और कभी–कभी वहाँ शतरंज की एक–दो बाज़ी भी खेलते।

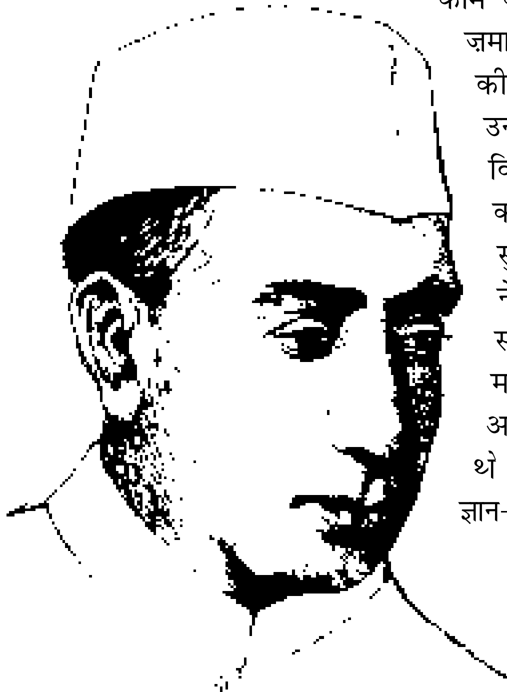
शिशिर कुमार मित्रा को और भी बहुत से सम्मान मिले, जिनमें प्रमुख हैं: भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी का अध्यक्ष पद (1959–60) और पद्म भूषण (1962)। कुछ दिन बीमार रहने के बाद 13 अगस्त 1963 को उनका देहान्त हुआ। उनकी स्मृति को अमर बनाने के लिए एक चन्द्र–विवर का नाम 'मित्रा' रखा गया है।



बीरबल साहनी

(1891 - 1949)

किसी नए जीवाश्म की खोज जीवन–विकासक्रम के इतिहास की व्याख्या को बदल सकती है। भारत में जीवाश्म विज्ञान की नींव रखने का श्रेय प्रो. बीरबल साहनी को दिया जाता है। माता–पिता का आरम्भिक प्रभाव अक्सर बच्चे के व्यक्तित्व एवं मानस को आकार देता है। बीरबल सौभाग्यशाली थे कि उन्हें रुचिराम साहनी जैसे प्रेरक पिता मिले, जो स्वयं एक खुदमुख्तार व्यक्ति थे। विज्ञान के प्रचार–प्रसार के अपने पथप्रदर्शक काम के अलावा रुचिराम ने अपने ज़माने की सामाजिक कुरीतियों की पुरज़ोर खिलाफत की थी। उनका मानना था कि शिक्षा और विज्ञान के माध्यम से ही भारत की गरीब जनता का जीवनस्तर सुधारा जा सकता है। मोतीलाल नेहरू, गोपाल कृष्ण गोखले, सरोजिनी नायडू और मदन मोहन मालवीय जैसे प्रमुख नेता अक्सर उनके घर आया करते थे। बीरबल साहनी इसी ज्ञान–सम्पन्न वातावरण में बड़े हुए।



बीरबल साहनी का जन्म 14 नवम्बर 1891 को एक छोटे–से कस्बे भेड़ा में हुआ जो अब पाकिस्तान में है। बचपन से ही उन्हें साहसी कामों में बड़ा आनन्द आता था। 14 साल की उम्र में एक दिन वे अपने छोटे भाई और बहन के साथ केकड़े पकड़ने के अभियान पर निकले। रूमाल और टीन के कुछ डिब्बों के साथ वे गहरी घाटियों में उतरे, ऊँची चट्टानों पर चढ़े और रात ढलने के बाद ही घर वापस लौटे। पर उनके समझदार माता–पिता ने उन्हें इसके लिए डाँटा–फटकारा नहीं। बीरबल अक्सर अपने पिता के साथ हिमालय के दूर–दराज़ के क्षेत्रों में घूमने जाते। इन अभियानों में वे अपने साथ जोसेफ डाल्टन हुकर्स द्वारा लिखित वनस्पतिशास्त्र की पुस्तक *फ्लोरा इण्डिका (Flora Indica/* भारत की वनस्पति) ले जाना नहीं भूलते। अपना बहुत सारा समय वे पौधों को पहचानने में व्यतीत करते थे। एक बार जोज़ि–ला नामक दर्रा पार करते हुए उन्होंने कुछ लाल बर्फ इकट्ठी की। बाद में सिद्ध हुआ कि वह बर्फ में उगने वाली दुर्लभ किस्म की काई थी।

बीरबल की आरम्भिक पढ़ाई लाहौर के मिशन स्कूल और सेंट्रल मॉडल स्कूल में हुई। 1911 में उन्होंने गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर से स्नातक की डिग्री हासिल की, जहाँ उनके पिता रसायन विज्ञान के प्राध्यापक थे। उसी साल वे इंग्लैण्ड चले गए और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के इमैन्युएल कॉलेज में दाखिला ले लिया। उनके पास कोई सिफारिश–पत्र नहीं था और यह दाखिला उन्हें पूर्णतः अपनी काबिलियत पर मिला। मगर कुछ समय बाद उन्हें घर की याद सताने लगी और वे भारत लौटने के लिए व्याकुल हो उठे। परन्तु उनके बड़े भाई, जो उस समय इंग्लैण्ड में डॉक्टरी पढ़ रहे थे, ने बीरबल से मन लगाकर पढ़ने का आग्रह किया। उस दिन के बाद से बीरबल ने पीछे मुड़कर नहीं देखा और 1914 में केम्ब्रिज से स्नातक की डिग्री हासिल की। उस



समय रुचिराम साहनी इंग्लैण्ड में लॉर्ड रदरफोर्ड की मैनचेस्टर स्थित प्रयोगशाला में कार्यरत थे। छुट्टियों में बीरबल तस्वीरें उतारने में अपने पिता की मदद करते। जवाहरलाल नेहरू केम्ब्रिज में बीरबल की कक्षा में थे। दोनों को ही जीवाश्मों से प्रेम था। बीरबल और जवाहरलाल की मित्रता सारी ज़िन्दगी कायम रही।

बीरबल के शोधकार्य की परिणति जे.सी. विलिस के साथ मिलकर लिखी एक पुस्तक *लैसवंस टेक्स्टबुक ऑफ बॉटनी (Lasvon's Textbook of Botany)* के प्रकाशन के रूप में हुई। जीवाश्म सम्बन्धी शोधकार्य के लिए बीरबल को 1919 में लन्दन विश्वविद्यालय ने डी.एससी. की डिग्री प्रदान की। 1920 में उनका शोधग्रन्थ *फिलोसॉफिकल ट्रांज़ेक्शन (Philosophical transaction)* नामक शोध पत्रिका में छपा; तब तक साहनी का नाम वनस्पतिशास्त्र के एक मौलिक चिन्तक के रूप में उभर चुका था।

केम्ब्रिज में पढ़ने के दौरान बीरबल की अपने शिक्षक प्रो. सीवर्ड के साथ गहरी दोस्ती हो गई थी। प्रो. सीवर्ड को जब कुछ भारतीय जीवाश्मों के नमूने अध्ययन के लिए भेजे गए तो उन्होंने उन्हें यह कहकर लौटा दिया कि उन पर शोध करने के लिए भारत में बीरबल साहनी उपयुक्त व्यक्ति हैं। प्रो. सीवर्ड द्वारा इस तारीफ के बाद बीरबल गम्भीर अनुसन्धान में जुट गए। 1920 में प्रो. सीवर्ड के साथ मिलकर उन्होंने *रिविज़न ऑफ इण्डियन गोंडवाना प्लांट्स (Revision of Indian Gondwana Plants/* भारत की गोंडवाना वनस्पतियों का पुनरीक्षण) पुस्तक लिखी।



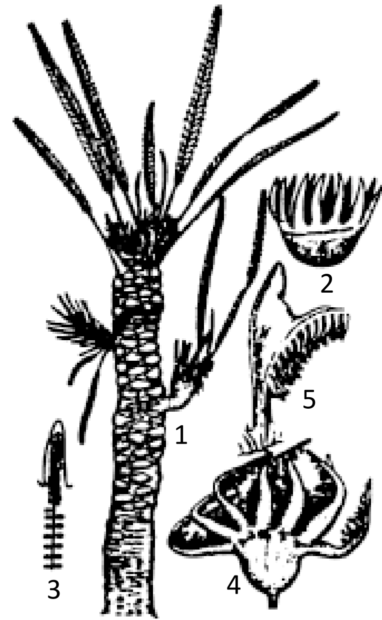
लाखों साल पुराने पौधे के निशान, जो इस चट्टान पर सुरक्षित हैं।

1921 में वे लखनऊ विश्वविद्यालय के नवनिर्मित वनस्पतिशास्त्र विभाग में पहले प्राध्यापक बने। वे न केवल

बी.एससी. के छात्रों को पढ़ाते थे, वरन् उनके प्रायोगिक कार्यों में भी मदद करते और उन्हें पेड़–पौधों के अवलोकन के लिए परिभ्रमण पर ले जाते। अपने श्रम से वे वनस्पतिशास्त्र में अनुसन्धान का एक जीवन्त केन्द्र स्थापित कर पाए। वे अपने विषय में दक्ष थे ही, इसके अलावा वे दोनों हाथों का उपयोग करते हुए ब्लैकबोर्ड पर बहुत तेज़ी से बढ़िया चित्र बनाने में भी माहिर थे। वे कार्य–व्यसनी थे और सदैव अपने काम में डूबे रहते थे। वे दिन–रात अपने हाथों से जीवाश्मों की पतली परतें काटते, घिसते और उन्हें चमकाते। जल्द ही वे जीवाश्म और चट्टानों के वैज्ञानिक नमूने तैयार करने में माहिर हो गए।

वे पहले भारतीय वनस्पतिशास्त्री थे जिन्हें 1936 में रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप से सम्मानित किया गया। उन्होंने भारतीय विज्ञान कांग्रेस के कई सत्रों की अध्यक्षता की तथा उन्हें अमेरिकन एकैडमी ऑफ आर्ट्स एंड साइंसेस की मानद सदस्यता भी प्रदान की गई।

विज्ञान में गहरी रुचि के साथ–साथ साहनी के अन्य बहुत से शौक थे। संगीत से उन्हें अथाह लगाव था और वे सितार और वायलिन बजाते थे। अपने खाली समय में वे चित्रकारी करते और मिट्टी के नमूने बनाते थे। शतरंज का उन्हें जुनून था। स्कूल और कॉलेज के दिनों में वे हॉकी और टेनिस खेलते थे। राष्ट्रभक्त होने के नाते उन्होंने अँग्रेज़ी लिबास त्याग दिया था और हमेशा खादी की



जीवाश्मों का विश्लेषण करते हुए बीरबल साहनी विलुप्त पौधे विलियमसोनिया की वैसी पुनर्रचना कर पाए जैसा कि वह दिखता था। यह फूल उत्पन्न करने वाले प्रारम्भिक पौधों में से था।

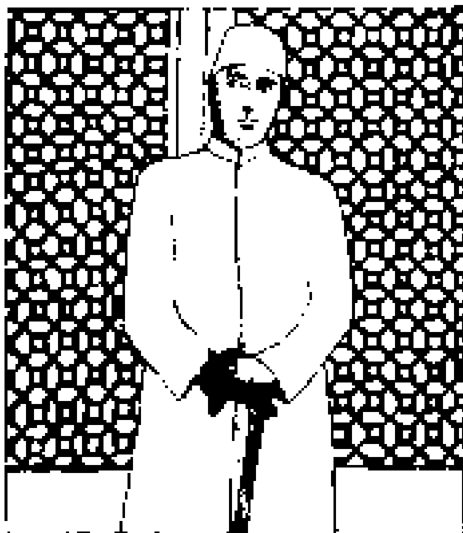
(1) पौधा; (2) नर फूल; (3) पुंकेसर; (4) अन्य प्रजाति का एक नर फूल; (5) माइक्रोस्पोरोफिल।

शेरवानी पहनते थे। बचपन से ही उन्हें संस्कृत में गहरी रुचि थी जो आजीवन बनी रही।

साहनी के शोध में भारत में पुरा–वनस्पतिशास्त्र (palaeobotany) के लगभग सभी पक्ष समाहित थे। उन्होंने बिहार की राजमहल पहाड़ियों से पौधों के अनेक जीवाश्म एकत्रित किए। यहाँ उन्होंने जीवाश्मों का एक नया समूह खोजा और उसे 'पेंटोज़ायलेई' (Pentoxylae) नाम दिया। वे इण्डियन बॉटेनिकल सोसाइटी (Indian Botanical Society) के संस्थापक सदस्य थे।

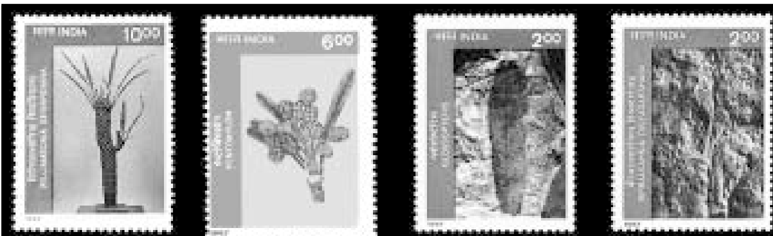
साहनी की कई क्षेत्रों में रुचि थी। उन्होंने प्राचीन भारतीय सिक्के बनाने की विधि पर शोध किया और इसके लिए 1945 में उन्हें न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया (Numismatic Society of India) ने नेल्सन राइट पदक से सम्मानित किया। जीवाश्मों पर शोधकार्य करते हुए उन्हें भूविज्ञान का भी गहरा ज्ञान हो गया। उनके शोध ने डेक्कन ट्रैप्स और हिमालय के उभार के काल पर भी प्रकाश डाला।

1920 में बीरबल साहनी का विवाह सावित्री के साथ हुआ, जो उनके काम और प्रवास में हमेशा साथ रहीं। बाद में उन्होंने लखनऊ में गोमती नदी के किनारे अपना घर बनाया। 1946 में पुरा–वनस्पतिशास्त्र विषय पर शोध को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने एक ट्रस्ट की स्थापना की। साहनी और उनकी पत्नी ने इस परियोजना के लिए शुरुआती पूँजी, स्थावर सम्पत्ति, पुस्तकें और जीवाश्म दान दिए। पैलियो–बॉटैनिकल सोसाइटी (Paleo-botanical Society) ने





लखनऊ विश्वविद्यालय के एक छोटे कमरे में ही अपना काम आरम्भ किया। 1948 में राज्य सरकार ने इस नई संस्था के लिए ज़मीन आवण्टित की। 3 अप्रैल 1949 को भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने इस संस्था की नींव रखी। बीरबल साहनी ने इस अवसर पर उद्घाटन भाषण दिया जो दुर्भाग्य से उनका अन्तिम भाषण सिद्ध हुआ। इसके एक सप्ताह बाद ही 9 अप्रैल 1949 की मध्यरात्रि को दिल का दौरा पड़ने से उनका देहान्त हो गया। बीरबल की मृत्यु के बाद सावित्री साहनी ने अपने पति के सपनों को साकार करने के लिए अथक प्रयास किए। उन्होंने अत्यन्त कठोर संघर्षों के बाद संस्था को मज़बूत बनाया और उसे अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता दिलाई। सावित्री साहनी के महत्वपूर्ण योगदान के लिए भारत सरकार ने 1969 में उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया। नवम्बर 1969 में अग्रणी वैज्ञानिक बीरबल साहनी की स्मृति में संस्था का नाम बदलकर बीरबल साहनी वनस्पत्यवशेषविज्ञान संस्थान (Birbal Sahni Institute of Paleobotany) रखा गया।



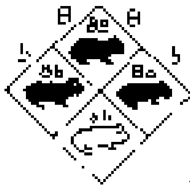
भारतीय डाक विभाग ने बीरबल साहनी के सम्मान में अनेक डाक टिकट जारी किए। विलुप्त वनस्पतियों की एक प्रजाति का नाम 'बीरबलसाहनिया दिव्यदर्शनी' रखा गया है।

जे.बी.एस. हाल्डेन

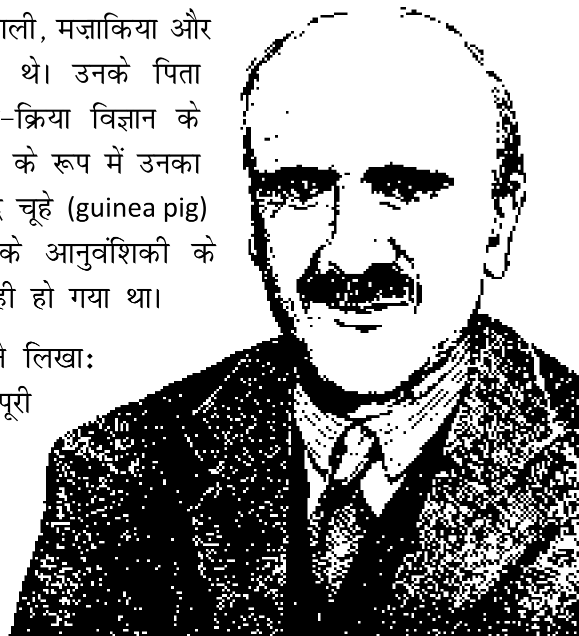
(1892 - 1964)

यह सच है कि कुछ मायनों में मैं एक विश्व–नागरिक हूँ – पर मैं थॉमस जैफरसन के इस मत से सहमत हूँ कि हरेक नागरिक का एक प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह अपने देश की सरकार को परेशान करता रहे।

– जे.बी.एस. हाल्डेन



जॉन बर्डन सैंडरसन हाल्डेन आधुनिक विज्ञान जगत् के सबसे बड़े झक्कियों में से एक थे। वे स्वतंत्र, प्रतिभाशाली, मज़ाकिया और बिलकुल अनूठे थे। उनके पिता ऑक्सफोर्ड में शरीर–क्रिया विज्ञान के प्राध्यापक थे और पिता के सहायक के रूप में उनका विज्ञान का शिक्षण शुरू हुआ। सफेद चूहे (guinea pig) पालते हुए ग्रेगर योहान मेण्डल के आनुवंशिकी के सिद्धान्तों का ज्ञान उन्हें बचपन में ही हो गया था।



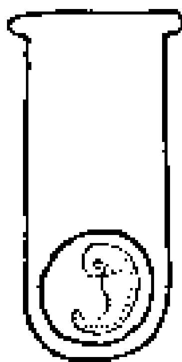
अपने बचपन के बारे में हाल्डेन ने लिखा: “मेरा बचपन धार्मिक शिक्षण से पूरी तरह मुक्त था; घर में धर्म की

बजाय विज्ञान और दर्शन का माहौल था। बचपन से ही हमारे घर में ज्ञान–विज्ञान का सामयिक चिन्तन मेरे लिए उपलब्ध था, इसीलिए न तो आइंस्टाइन की बातें मेरी समझ के बाहर हैं और न ही फ्रॉयड की बातों से मैं थर्राता हूँ। अपनी जवानी में मैंने युद्ध में भाग लिया और इन्सानी स्वभाव के वे पक्ष देखे जो आम बुद्धिजीवी नहीं देख पाते। एक वयस्क के रूप में मैं जीव विज्ञानी हूँ और दुनिया को एक अनूठी दृष्टि से देखता हूँ, जो मेरे खयाल से पूरी तरह भ्रामक भी नहीं है।"

हाल्डेन ने अपने शक्तिशाली शरीर पर तमाम तरह के प्रयोग करके अपनी पारिवारिक परम्परा को कायम रखा। एक प्रयोग में उन्होंने माँसपेशियों के कार्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करने के लिए काफी मात्रा में हाईड्रोक्लोरिक अम्ल पी लिया था; एक अन्य प्रयोग में उन्होंने कड़ी वर्जिश करके अपने फेफड़ों में पैदा हुई कार्बन डाईऑक्साइड का दबाव मापा था।

पढ़ाई समाप्त करने के बाद हाल्डेन ने यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में आनुवंशिकी और जीवसांख्यिकी (biometry) पढ़ाना शुरू किया। जनसंख्या आनुवंशिकी (population genetics) की नींव रखने वाले तीन दिग्गजों में से एक हाल्डेन थे। इस मामले में महत्ता में उनकी गणना आर.ए. फिशर और सेवाल राइट के बाद आँकी जाती है। प्राकृतिक चयन को गणितीय पदों में परिभाषित करने के लिए आनुवंशिकी की अवधारणाओं का उपयोग करना हाल्डेन की मेधा का कमाल था। इससे मेण्डल की आनुवंशिकी और डार्विन के विकासक्रम के बीच संश्लेषण का मार्ग प्रशस्त हुआ, जो आधुनिक जीव विज्ञान का आधार है। आनुवंशिकी के अलावा हाल्डेन ने जीव विज्ञान, रसायन विज्ञान और गणित के क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण शोध किए। साथ ही उन्होंने इतिहास और राजनीति पर भी खूब लिखा।



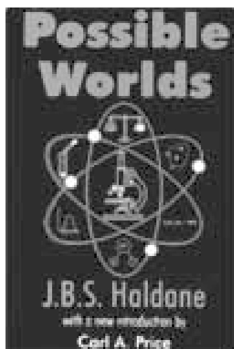


1924 में हाल्डेन ने एक गल्पकथा लिखी जिसका शीर्षक था *डैडालस (Daedalus)*। यह पहली पुस्तक थी जिसमें बिना सम्भोग या गर्भ धारण किए, परखनली में प्रजनन की वैज्ञानिक सम्भाव्यता का वर्णन था। उस समय इस कहानी को विज्ञान की गल्पकथा का एक दिल दहलाने वाला नमूना माना गया। *डैडालस* लोकप्रिय और प्रभावशाली पुस्तक सिद्ध हुई और उसने 20वीं सदी में लगने वाले झटकों की एक झलक पेश की। उससे ही प्रेरित होकर एल्डस हक्सले ने 1932 में अपना उपन्यास *ब्रेव न्यू वर्ल्ड (Brave New World)* लिखा। परखनली प्रजनन से जन्मे बच्चों पर आधारित समाज की इस कहानी में दुनिया रहने लायक नहीं रह जाती।

कृत्रिम प्रजनन की सम्भावनाओं को उजागर करने के बावजूद हाल्डेन ने सुजनन–विज्ञान की घोर निन्दा की। उन्होंने शिकायत की कि "मनुष्यों की आज़ादी के दुश्मन" आनुवंशिकी सिद्धान्त को तोड़–मरोड़कर उसका उपयोग अपने संकीर्ण राजनैतिक हितों के लिए कर रहे हैं।

1926 में हाल्डेन ने *डेली एक्सप्रेस (Daily Express)* की एक युवा संवाददाता शारलोट बर्गीस से शादी की। बाद में उन्हें तलाक देकर हाल्डेन ने एक जीव विज्ञानी हेलन स्पर्वे से विवाह कर लिया।

हाल्डेन का आम लोगों की भलाई से गहरा जुड़ाव था। ऑक्सफोर्ड में छात्र जीवन के दौरान वे उदारवादी थे, परन्तु बाद में वे वामपन्थी धारा की ओर आकर्षित हुए और 1942 में उन्होंने औपचारिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। आगे चलकर वे कम्युनिस्ट पार्टी के अखबार *डेली वर्कर (Daily Worker)* के सम्पादन मण्डल के अध्यक्ष बने। इस दौरान उन्होंने विज्ञान के विषय पर 300 से भी अधिक लेख लिखे, जिनमें उनकी लोकोन्मुखी राजनीति भी साफ उजागर होती है।

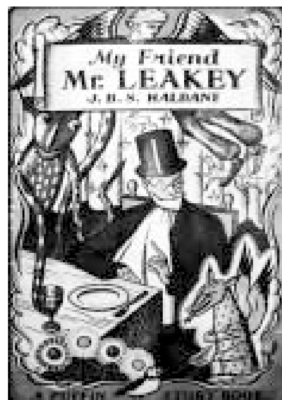


> *"मैं महसूस करता हूँ कि अगर प्राध्यापक राजनीति से अलग रहने की चेष्टा भी करते हैं तब भी राजनीति प्राध्यापकों को अकेला नहीं छोड़ेगी।"*

हाल्डेन का विश्वास था कि जो सुविधाएँ उन्हें मिली थीं वही सुविधाएँ मेहनतकश लोगों को भी उपलब्ध होनी चाहिए, इसलिए वे समाजवादी बने। बाद में सोवियत संघ की घटनाओं, जैसे कि मेण्डलवाद विरोधी कृषि वैज्ञानिक लायसेन्को का उत्थान और स्टालिन के अपराध, से खिन्न होकर उन्होंने पार्टी छोड़ दी। हालाँकि स्टालिन और लायसेन्को के प्रति उन्होंने आंशिक समर्थन प्रदर्शित किया था।

हाल्डेन के उस समय की शिक्षा प्रणाली सम्बन्धी विचार आज भी सामयिक हैं। उनके अनुसार: "हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली बच्चों के लिए अन्यायपूर्ण है, क्योंकि वह उनमें से अधिकांश को उचित अवसर नहीं देती और व्यवहारतः किसी भी छात्र को मनुष्य के दृष्टिकोण से विज्ञान नहीं पढ़ाया जाता है। विज्ञान को किसी काल्पनिक स्थिर या एकरूप गतिशील पिण्ड की तरह से पढ़ाने के बदले उसे सीधे मनुष्य के शरीर का उदाहरण लेकर पढ़ाना चाहिए। मैंने तीन वर्ष की आयु से इसी प्रकार सीखना शुरू किया।"

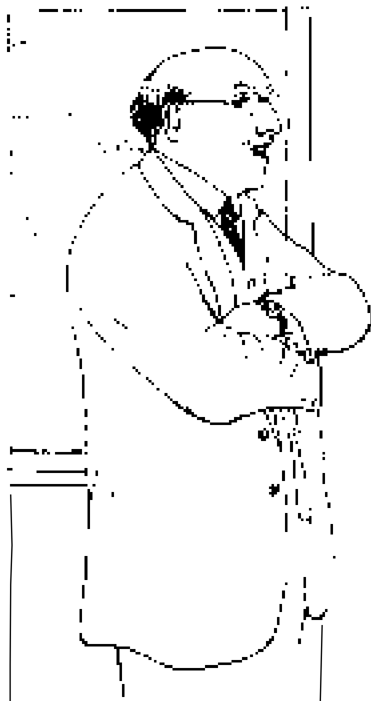
अपने निबन्ध *ऑन बीइंग द राइट साइज़ (On Being The Right Size)* में हाल्डेन ने लिखा कि जीव का आकार ही अन्ततः उसके शरीर के आन्तरिक ढाँचे को तय करता है: "कीट–पतंगे छोटे होते हैं इसलिए उनमें ऑक्सीजन पहुँचाने वाली रक्तशिराएँ नहीं होतीं। जो थोड़ी–बहुत ऑक्सीजन उनकी कोशिकाओं के लिए ज़रूरी होती है उसे शरीर की त्वचा बाहर के वातावरण से सोख लेती है। किन्तु बड़ा आकार होने का अर्थ है कि शरीर की प्रत्येक कोशिका तक ऑक्सीजन पहुँचाने के लिए जटिल पम्पिंग यंत्रों की आवश्यकता होगी।"



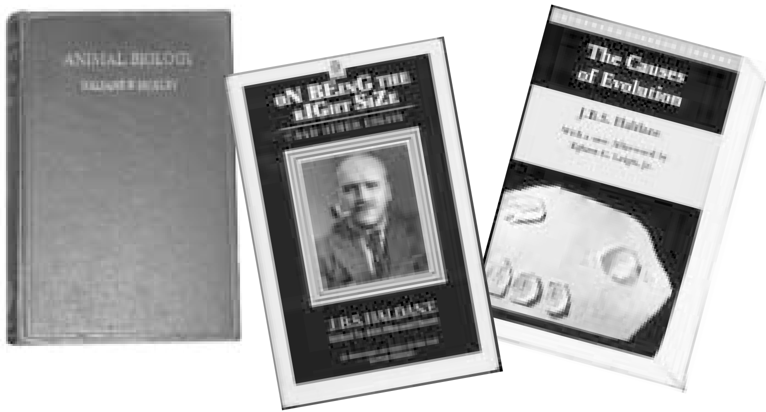
1937 में उन्होंने *माई फ्रेंड मिस्टर लीकी (My Friend Mr. Leakey)* लिखी। बच्चों के लिए लिखी उनकी यह शायद एकमात्र पुस्तक है। मिस्टर लीकी का अबूझ–सा पात्र बच्चों को बहुत पसन्द आया और उन्होंने हाल्डेन को सारी ज़िन्दगी हज़ारों पत्र लिखे।

हाल्डेन विज्ञान के अद्वितीय प्रचारक थे। उनके लेख स्पष्टता की मिसाल हैं। वे विज्ञान की गूढ़ अवधारणाओं का अर्थ तोड़े–मरोड़े बिना उन्हें सरल तरीके से पेश करने में सक्षम थे। अपने लेखों, निबन्धों और भाषणों के कारण वे विश्व के जाने–माने विज्ञान–प्रचारक बन गए। उन्होंने खदान मज़दूरों को जीवाश्म खोजने के लिए प्रशिक्षित और प्रेरित किया। और जब कभी कोई खदान मज़दूर पृथ्वी के गर्भ से कोई जीवाश्म ढूँढकर लाता तो वे उसे 10 ब्रिटिश पाउण्ड का पुरस्कार देते।

1957 में इंग्लैण्ड और फ्रांस द्वारा स्वेज़ पर आक्रमण के विरोध में हाल्डेन भारत आ गए। भारत में आनुवंशिकी और जीवसांख्यिकी पर शोध के लिए उपलब्ध सुविधाओं से भी वे प्रभावित थे। वे प्रफुल्ल चन्द्र महालनोबिस के निमंत्रण पर कलकत्ता स्थित भारतीय सांख्यिकीय संस्थान से जुड़ गए।



भारतीय सांख्यिकीय संस्थान के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में उन्होंने लिखा, “वैसे मैं इस संस्था का बहुत आभारी हूँ, इसका सबसे बड़ा यह उपकार है कि इसने मुझे कुछ महत्वपूर्ण खोज करने का अवसर दिया है। जैसे, यहाँ मैं अपने से कम उम्र के कई ऐसे नौजवान अनुसन्धानकर्ताओं को खोज पाया हूँ जो वैज्ञानिक शोध की महान परम्परा के वाहक हैं।”



1962 में हाल्डेन आनुवंशिकी एवं जीवसांख्यिकी प्रयोगशाला (जेनेटिक्स एंड बायोमेट्री लेबोरेटरी) स्थापित करने के लिए भुवनेश्वर चले गए।

हाल्डेन ने अपने समूह के युवा छात्रों को जीव विज्ञान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान करने के लिए प्रोत्साहित किया और उनका हमेशा नापतौल, सांख्यिकी और विश्लेषण पर ज़ोर होता था। इसके लिए उन्होंने रोचक समस्याएँ चुनीं, मिसाल के लिए – किसी खेत में केंचुओं द्वारा खोदी गई मिट्टी की मात्रा का अनुमान; एक ही प्रजाति के फूलों में पंखुड़ियों की संख्या में विविधता; एक खेत में किसी एक ही प्रजाति या उसी खेत में विभिन्न प्रजातियों के धान लगाने से उनकी उपज पर होने वाले प्रभाव की तुलना।

भारत में जीव विज्ञान के शिक्षण में हाल्डेन के प्रयासों से गुणात्मक परिवर्तन आया। भारतीय विश्वविद्यालयों के हालात से वे दुखी थे। उन्होंने कहा, "जीव विज्ञान पढ़ने वाले छात्रों को कम उम्र से ही गणित और सांख्यिकी के विषयों को त्यागना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप जीव विज्ञान के स्नातक स्वतः ही अधिकांश प्रकार के अनुसन्धान से वंचित रह जाते हैं, जो कृषि और पशुपालन के विकास में महत्वपूर्ण है।"

हाल्डेन के अभूतपूर्व योगदानों के लिए उन्हें अनेक सम्मान मिले। 1932 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। 1953 में रॉयल सोसाइटी ने उन्हें डार्विन पदक से सम्मानित किया। 1937 में फ्रांसीसी सरकार ने उन्हें

लीज़न ऑफ ऑनर्स प्रदान किया और एकेडेमिया नेशनैल द लिंसी (Academia Nazionale dei Lincei) ने उन्हें 1961 में फेल्ट्रीनेली पुरस्कार से नवाज़ा। 1932 से 1936 तक वे जेनेटिकल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे।

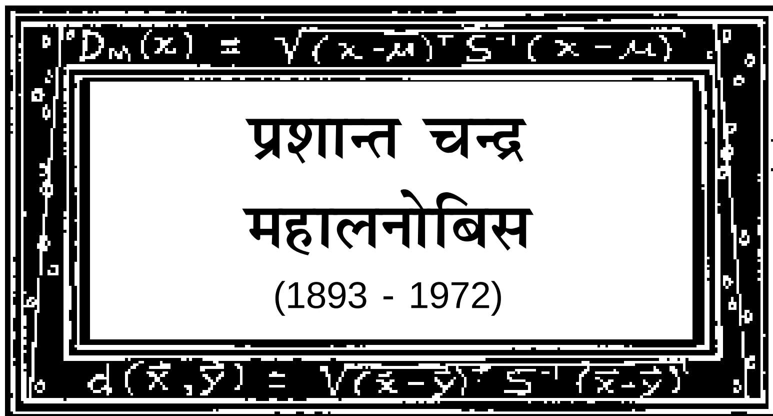
हाल्डेन एक अदम्य व्यक्ति थे। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व कैंसर से पीड़ित हाल्डेन ने अपनी बीमारी पर एक कविता लिखी:

कैंसर भी क्या अजब चीज़ है:
काश मेरे पास होते होमर के बोल
जिससे मैं करता कैंसर की स्तुति दिल खोल।
इस बीमारी से इतने ज़्यादा लोग मरते हैं
कि ट्रॉय की लड़ाई में मरे बन्दे कम लगते हैं।

यह कविता उनके मित्रों को भेजी गई। इस कविता के ज़रिए उन्होंने उस बेबाक अश्रद्धा का मज़ा लिया जिसे हाल्डेन ने अपनी बिन्दास और जरखेज़ ज़िन्दगी में अपनाया था।

1 दिसम्बर 1964 को हाल्डेन का देहान्त हुआ। वसीयतनामे के अनुसार उनके मृत शरीर को काकिनाडा स्थित रंगराया मेडिकल कॉलेज को दान स्वरूप भेज दिया गया। हाल्डेन ने अपनी वसीयत में लिखा था, "...मृत्यु के बाद, चाहे मैं रहूँ या न रहूँ, इस शरीर का मेरे लिए अब कोई अन्य उपयोग नहीं होगा और मैं आशा करता हूँ कि दूसरे इसका उपयोग करेंगे। सम्भव हो तो मेरे द्वारा छोड़े धन में से सबसे पहला खर्च मेरे शरीर के प्रशीतन पर करें।"





प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस

(1893 - 1972)

सांख्यिकी का कोई स्पष्ट उद्देश्य होना अनिवार्य है, जिसका एक पक्ष वैज्ञानिक विकास हो, और दूसरा लोगों की खुशहाली और राष्ट्रीय विकास।

– प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस

प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस, जिन्हें 'प्रोफेसर' सम्बोधित किया जाता है, शिक्षा से भौतिक विज्ञानी, दिल से सांख्यिकीविद् और विचारों से अर्थशास्त्री थे। यह गौरतलब है कि उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान उन क्षेत्रों में था जिनमें उनके पास कोई औपचारिक डिग्री नहीं थी। शायद बहुत से लोग उनके आदर्श का अनुसरण करना चाहेंगे। प्रख्यात जीव विज्ञानी जे. बी.एस. हाल्डेन ने ठीक ही कहा था:



"यह बात ठीक ही है कि किसी पुरुष या महिला का मौलिक शोध उस विषय में हो जिसमें उसके पास कोई औपचारिक डिग्री न हो। डिग्री हासिल करने के

लिए लोग तथ्यों और सिद्धान्तों को कुछ–कुछ तोते की तरह रटते हैं। जिस विषय में परीक्षा में प्रथम श्रेणी पाने के खयाल से पढ़ाई की गई हो, उसमें पूरी तरह मौलिक होना काफी मुश्किल है।”

महालनोबिस का जन्म 29 जून 1893 को कलकत्ता में हुआ। दो भाइयों और तीन बहनों में वे सबसे बड़े थे। उनका परिवार समृद्ध था और ब्राह्म समाज के उदार मूल्यों और परम्पराओं में विश्वास रखता था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा ब्राह्म बॉयज़ स्कूल, कलकत्ता में हुई और 1912 में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से भौतिक विज्ञान में ऑनर्स के साथ बी.एससी. की डिग्री प्राप्त की। वे सत्येन्द्र नाथ बोस और मेघनाद साहा के समकालीन एवं मित्र थे।

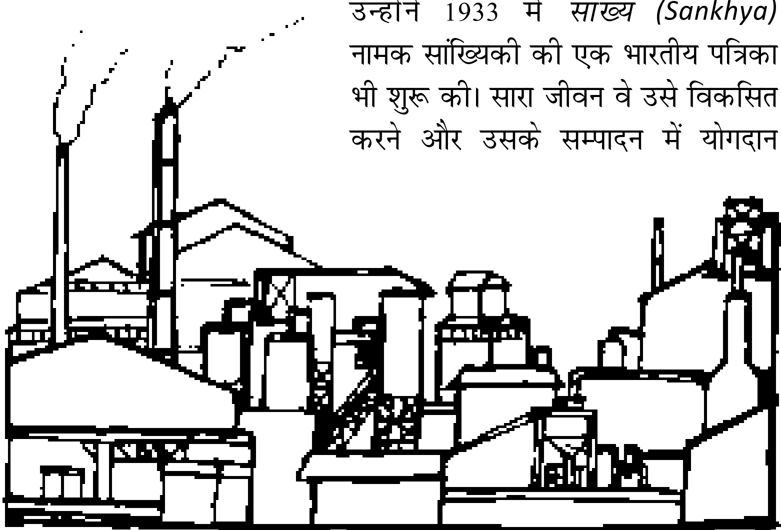
उनकी पत्नी निर्मला कुमारी का उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव था और उन्होंने आजीवन उनके सभी कामों में हाथ बँटाया। निर्मला कुमारी का परिवार भी बहुत प्रगतिशील था।

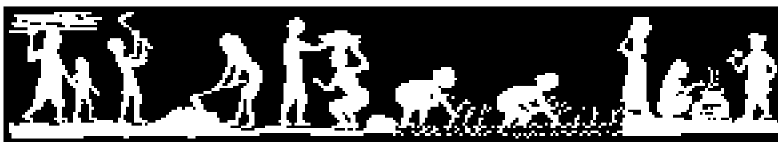
महालनोबिस ने तीन प्रमुख कार्य किए – बड़े पैमाने पर सर्वेक्षण करने के तंत्र का गठन, भारत की विभिन्न प्रकार की मूर्त समस्याओं को सुलझाने में सांख्यिकी के सिद्धान्तों का प्रयोग और विश्वस्तरीय संस्थाओं का गठन। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से गणित और भौतिक विज्ञान का उच्च अध्ययन करने के बाद उन्होंने कुछ समय तक कैवेन्डिश प्रयोगशाला में काम किया और 1915 में वे अल्प अवकाश के लिए भारत आए। उन्हें भारत में अनेक चुनौतीपूर्ण समस्याएँ नज़र आईं और उन्होंने भारत में ही रहने का निर्णय लिया। उन्होंने कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में भौतिक विज्ञान पढ़ाना शुरू किया, जहाँ उन्होंने सांख्यिकीय पद्धति द्वारा परीक्षा परिणामों का विश्लेषण किया। इस कार्य में उन्हें इतना मज़ा आया कि उन्होंने भौतिक विज्ञान छोड़ दिया और फिर तथ्यों, आँकड़ों, ग्राफों और चार्टों से ही सारी ज़िन्दगी प्यार करते रहे। महालनोबिस के आने से पहले देश सांख्यिकी से लगभग अनजान था। इस विषय को भारत के किसी भी विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता था।

महालनोबिस सर्वेक्षण नमूना तकनीकों के प्रणेता थे। भारत की स्वतंत्रता के तुरन्त बाद उन्हें नवगठित मंत्रीमण्डल का सांख्यिकी सलाहकार नियुक्त

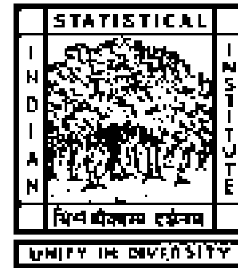
किया गया। 1955 में उन्होंने भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना का मसौदा तैयार किया, जिसमें बेरोज़गारी खत्म करने के लिए तेज़ी से औद्योगीकरण की दलील दी गई। उन्होंने इस्पात उद्योग और बड़े कारखानों में भारी पूँजी निवेश की अनुशंसा की। नियोजन का उनका दृष्टिकोण 1940 के दशक के आर्थिक संकट को प्रतिबिम्बित करता था – अतिरिक्त श्रम शक्ति को व्यापक औद्योगीकरण में खपाना। लेकिन 1970 के दशक तक इन अवधारणाओं की वैधता लगभग खत्म हो गई, क्योंकि औद्योगीकरण में राज्य का भारी पूँजी निवेश प्रभावी रूप से गरीबी हटाने में सफल नहीं रहा। इसलिए बाद की आर्थिक नीतियों में सीधे तौर पर ग्रामीण गरीबी दूर करने के प्रयास किए गए।

सांख्यिकीय तौर-तरीकों से आकर्षित हो महालनोबिस ने इनका गहन अध्ययन आरम्भ किया और कॉलेज में एक सांख्यिकीय प्रयोगशाला की स्थापना की। इसी प्रयोगशाला ने 1932 में विकसित होकर भारतीय सांख्यिकीय संस्थान (Indian Statistical Institute) का रूप लिया। उन्होंने 1933 में *सांख्य (Sankhya)* नामक सांख्यिकी की एक भारतीय पत्रिका भी शुरू की। सारा जीवन वे उसे विकसित करने और उसके सम्पादन में योगदान





देते रहे। 1950 में उन्होंने राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण और 1951 में केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन की स्थापना की।



भारतीय सांख्यिकीय संस्थान ने विभिन्न विषयों के अन्तर्सम्बन्धों पर विश्वस्तरीय काम किया और दुनिया के अग्रणी वैज्ञानिकों को साथ जोड़ा। प्रख्यात ब्रिटिश वैज्ञानिक जे.बी.एस. हाल्डेन भारत में आ बसे और भारतीय सांख्यिकीय संस्थान में नियमित कार्यकर्ता की तरह काम करने लगे। हाल्डेन के मार्गदर्शन में संस्थान जल्द ही भारत में जीव और वनस्पति आनुवंशिकी का अग्रणी शोधकेन्द्र बना। विश्व प्रसिद्ध गणितज्ञ और साइबरनेटिक्स (cybernetics) के पितामह नॉर्बर्ट वॉइनर ने भारतीय सांख्यिकीय संस्थान में विशिष्ठ प्राध्यापक की हैसियत से छह माह बिताए।

महालनोबिस ने सांख्यिकी का उपयोग विभिन्न प्रकार की सामाजिक और भौतिक परिस्थितियों को गहराई से समझने के लिए किया। 1920 के दशक के आरम्भ में उन्होंने कलकत्ता के एंग्लो–इण्डियन समुदाय पर जुटाए गए आँकड़ों द्वारा विभिन्न समुदायों के शारीरिक गुणधर्मों को मापने का तरीका खोजा। 1930 के दशक में केन्द्रीय जूट समिति ने उन्हें समूचे बंगाल का सर्वेक्षण कर जूट के कुल उत्पादन का अनुमान लगाने को कहा। यह इतना बड़ा सर्वेक्षण था कि इससे 1950 में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के पहले चरण की नींव पड़ी। बाद में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण भारत में गरीबी और लोगों के जीवन–स्तर के आँकड़ों का प्राथमिक स्रोत बन गए।

उपलब्धियों की उपरोक्त सूची महत्वपूर्ण क्यों है? राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण की शुरुआत से पहले बड़े पैमाने के सर्वेक्षण गरीब देशों में तो क्या, दुनिया में कहीं भी नहीं हुए थे। भारत की 80 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती थी जबकि केवल एक–तिहाई गाँव ही सड़कों से जुड़े थे। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने कम–खर्च में सर्वेक्षण करके परिवारों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के राष्ट्रीय आँकड़े इकट्ठा करने के प्रयास किए, इनमें से बहुत से परिवार दूर–दराज़ के इलाकों में रहते थे। इसके लिए

अत्यधिक तकनीकी कुशलता, ऊर्जा, प्रतिबद्धता और नेतृत्व के गुणों की ज़रूरत थी जो महालनोबिस की विशेषता थी। भारत ने अनेक ख्यात सांख्यिकीविदों को पैदा किया है जिनमें से अधिकांश भारतीय सांख्यिकीय संस्थान से जुड़े रहे हैं और कुछ ने तो वास्तव में बुनियादी योगदान दिया है। महालनोबिस की यह विशिष्टता थी कि उन्होंने बहुत-सी ठोस समस्याओं को उठाया और वैज्ञानिक पद्धति द्वारा गम्भीरता से उनका हल खोजने का प्रयास किया। महालनोबिस के अनुसार, "सांख्यिकी का कोई उद्देश्य होना चाहिए।"

विश्व की कई शैक्षिक संस्थाओं ने सांख्यिकी और आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य करने के लिए महालनोबिस को सम्मानित किया। 1945 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। वे भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के संस्थापक फैलो थे (1935) और उसके अध्यक्ष भी रहे (1957-58)। उन्हें कलकत्ता, दिल्ली, स्टॉकहोम और सोफिया विश्वविद्यालयों ने डॉक्टरेट की मानद उपाधियों से नवाज़ा। भारत सरकार ने 1968 में उन्हें पद्म विभूषण से अलंकृत किया।

प्रसिद्ध अमरीकी सांख्यिकीविद् डब्लू.ए. डेमिंग ने महालनोबिस की प्रशंसा निम्न शब्दों में की:

> कोई भी देश, चाहे वह विकसित हो, कम विकसित हो या अतिविकसित हो, उसके पास खर्च, बचत, बीमारी में बीता समय, रोज़गार, बेरोज़गारी, कृषि और औद्योगिक उत्पादन पर इतनी विस्तारपूर्वक जानकारी का खज़ाना नहीं है।

और इस सब के लिए हम भारतीय सांख्यिकी के पितामह प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस को नमन करते हैं। उनका देहान्त 79 वर्ष की उम्र में 28 जून 1972 को हुआ।



मेघनाद साहा

(1893 - 1956)

बहुत गैर–बराबरी वाले समाज में निचली जाति के लोगों के साथ अक्सर नाइन्साफी होती है और उन्हें दबाया जाता है। इससे वे अपनी क्षमताओं को पूरी तरह विकसित करने में असमर्थ रहते हैं। पर यही असमानता की भावना कई होनहार लोगों को दासता की बेड़ियों को तोड़ने की प्रेरणा भी देती है। डॉ. मेघनाद साहा एक ऐसे ही अग्रणी भारतीय वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपने संघर्ष और अथक लगन द्वारा सामाजिक बन्धनों को तोड़ा।



मेघनाद साहा का जन्म 6 अक्तूबर 1893 को सेयोरातली में हुआ। यह स्थान अब बांग्लादेश में है। उनके पिता जगन्नाथ साहा परचून की एक छोटी दुकान चलाते थे। जब मेघनाद का जन्म हुआ तब घनघोर तूफान आया हुआ था और धुआँधार बारिश हो रही थी। इसीलिए नवजात शिशु का नाम मेघनाद रखा गया।

मेघनाद के माता–पिता गरीब

थे। उनके भाई स्कूल में फेल हो गए थे। इसलिए माता-पिता ने मेघनाद को स्कूल भेजकर पैसे व्यर्थ करने की ज़रूरत नहीं समझी। परन्तु मेघनाद बहुत होशियार थे और वे अपने जन्म और जाति के बन्धनों को तोड़ना चाहते थे। माध्यमिक विद्यालय घर से दूर था। इसलिए उन्हें विद्यालय के पास ही एक दयालु व्यक्ति के साथ रहना पड़ा। परन्तु वे दयालु व्यक्ति भी सामाजिक पूर्वाग्रहों से ऊपर नहीं उठे थे। मेघनाद को अपने बर्तन स्वयं माँजने पड़ते थे क्योंकि कोई और उन्हें छूता नहीं था! पर मेघनाद ने इन सब बातों को धैर्यपूर्वक सहा। 1905 में उन्होंने मिडिल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की और पूरे ढाका मण्डल में प्रथम आए। उसके बाद उन्होंने ढाका शहर में ही कॉलेजिएट स्कूल में दाखिला लिया।

'बाँटो और राज करो' के सिद्धान्त द्वारा अँग्रेज़ भारत पर शासन करने में सफल हुए थे। लॉर्ड कर्ज़न ने बंगाल को पूर्वी और पश्चिमी दो हिस्सों में बाँट दिया। बँटवारे का कारण प्रशासनिक सुविधा बताया गया। परन्तु एक भाग में हिन्दुओं और दूसरे में मुसलमानों का बाहुल्य था। इसलिए इसके पीछे छिपी अँग्रेज़ों की कूटनीति स्पष्ट थी। राष्ट्रवादी बंगालियों ने इस बँटवारे का विरोध किया। युवा मेघनाद ने अँग्रेज़ विरोधी आन्दोलनों में भाग लिया और इस कारण उन्हें स्कूल से निकाल दिया गया। सौभाग्य से एक अन्य स्कूल ने उन्हें दाखिला दे दिया। 1911 में उन्होंने विज्ञान विषय में इंटरमीडियेट उत्तीर्ण कर कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया।



प्रेसिडेंसी कॉलेज में मेघनाद की भेंट अन्य बुद्धिमान लोगों से हुई। सत्येन्द्र नाथ बोस उनके सहपाठी थे, सुभाष चन्द्र बोस उनसे कनिष्ठ और प्रफुल्ल चन्द्र महालनोबिस उनके वरिष्ठ थे। उनके विलक्षण शिक्षकों में जगदीश चन्द्र बोस और प्रफुल्ल चन्द्र रे थे, जिनके उद्घोष, "विज्ञान इन्तज़ार कर सकता है लेकिन स्वराज नहीं," का मेघनाद पर गहरा असर हुआ। 1913 में बी.एससी. और 1915 में उन्होंने एम.एससी. पूर्ण की जिसमें वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में दूसरे स्थान पर आए।

साहा को कलकत्ता में गरीबी और सामाजिक प्रताड़ना सहनी पड़ी। अपनी आजीविका कमाने के लिए वे पूरे शहर में साइकिल पर ट्यूशन देने जाते। स्नातक होने के बाद बहुत–से क्षेत्रों की तरह मेघनाद वित्त सेवा की परीक्षा में बैठना चाहते थे, परन्तु राजनैतिक कार्यकर्ता होने की वजह से उन्हें रोक दिया गया। 1918 में राधारानी राय के साथ उनका विवाह हुआ।

उसके बाद साहा ने सत्येन्द्र नाथ बोस के साथ कलकत्ता विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान विभाग में नौकरी की। साहा गणितज्ञ के रूप में प्रशिक्षित हुए थे, इसलिए उन्हें प्रायोगिक भौतिकी में दक्ष होने में कुछ समय लगा।

उस समय तेज़ी से उभरते सापेक्षता के सिद्धान्त और क्वांटम यांत्रिकी (quantum mechanics) ने उन्हें आकर्षित किया। 1917 में उन्होंने अपना पहला शोधपत्र "ऑन मैक्सवैल्स स्ट्रैसेस, कंसर्निंग इलेक्ट्रो–मैग्नेटिक थ्योरी ऑफ रेडियेशन" शीर्षक से लिखा, जो *फिलोसॉफिकल मैगज़ीन (Philosophical Magazine)* में प्रकाशित हुआ। 1919 में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.एससी. की डिग्री प्रदान की।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् वैज्ञानिकों ने तारों के प्रकाश को सूर्य के गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र के कारण मुड़ते हुए देखा और इस प्रकार आइंस्टाइन के सिद्धान्त की पुष्टि हुई। साहा ने इस क्षेत्र – तारों के वर्णक्रम – में गहरी रुचि ली और अपने शोध से इस विषय पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। 1814 में फ्रॉनहौफर ने सूरज के वर्णक्रम में बहुत–सी काली रेखाएँ खोजी

$$+ \; e^- \Longleftrightarrow$$

$$\log \frac{n_{r+1} P_e}{n_r} = -\chi_r \frac{5040}{T} + 2.5 \log(T) - 0.48 + \log \frac{2u_{r+1}}{u_r}$$

where:

$$u_r = g_0 + \sum_i g_i \cdot e^{-\frac{E_i}{kT}}$$

थीं। 1859 में किरकॉफ ने सिद्ध किया था कि वर्णक्रम की ये रेखाएँ किन्हीं निश्चित रासायनिक तत्वों को दर्शाती हैं। पृथ्वी से पहले हीलियम की खोज सूर्य पर हुई थी! बेहतर वर्णक्रममापी (spectrometer) से चमकीली और स्याह दोनों वर्णक्रम रेखाएँ देखने को मिलीं। परन्तु चमकीली और स्याह रेखाओं की संख्या ज्ञात तत्वों से कहीं अधिक थी। लोगों ने तरह–तरह के कयास लगाए कि इसका क्या कारण हो सकता है, परन्तु अन्त में इसका हल साहा ने खोजा। जब कोई गैस गर्म हो जाती है तो उसके कुछ इलेक्ट्रॉन धनात्मक आवेशित नाभिकों और ऋणात्मक आवेशित मुक्त इलेक्ट्रॉनों को छोड़कर दूर छिटक जाते हैं। इसे आयनीकरण (ionisation) की प्रक्रिया कहते हैं। साहा ने उच्च–तापीय आयनीकरण (high thermal ionisation) का सिद्धान्त विकसित किया और उसके आधार पर तारों का वर्णक्रम समझाया। साहा के आयनीकरण समीकरण ने खगोल भौतिकी की इस गूढ़ पहेली को सुलझाया। इसे एक मील का पत्थर माना जाता है। इस समीकरण की सहायता से किसी तारे के निर्माण में लगे विभिन्न तत्वों के आयनीकरण की अवस्था की पहचान की जा सकती है।

एक अनुदान के सहयोग से साहा यूरोप का दौरा कर पाए। जर्मनी में उनकी भेंट प्रख्यात वैज्ञानिकों आइंस्टाइन और प्लैंक से हुई। 1923 में साहा भारत वापस लौटे। कुछ ही समय बाद उन्होंने प्रो. आशुतोष मुखर्जी के आमंत्रण पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान पढ़ाने के लिए खैरा प्रोफेसर का पद स्वीकारा। इसके बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय का आमंत्रण स्वीकार किया और इलाहाबाद चले गए, जहाँ उन्होंने 15 वर्ष काम किया।

1927 में सिर्फ 34 वर्ष की अल्पायु में साहा रॉयल सोसाइटी के फैलो चुने गए। उन्होंने नाभिकीय भौतिकी में गहन शोध किया। पॉल डिराक और साहा ने मिलकर चुम्बकीय एकल ध्रुवों (magnetic monopoles) की शक्ति मापने के लिए एक सूत्र ईजाद किया।

> साहा लोगों से अलग–थलग रहने वाले वैज्ञानिक नहीं थे। उन्होंने खुद को आम जनता की समस्याओं के समाधान में लगाया। लोगों के बीच वैज्ञानिक सोच का प्रसार करना उनकी प्राथमिकता थी।

यह सूत्र डिराक–साहा सूत्र के नाम से जाना जाता है। यह सूत्र इस क्षेत्र में साहा की सफलता का एक स्थायी मुकाम है।

1936 में साहा यूरोप और अमरीका के एक लम्बे शैक्षिक दौरे पर गए। एनरिको फर्मी, वर्नर हाइज़ेनबर्ग और नील्स बोह्र के शोधकार्य ने दुनिया को परमाणु बम का तोहफा दिया था। साहा का नाभिकीय ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोगों में गहरा विश्वास था। 1940 में टाटा द्वारा 60,000 रुपयों के अनुदान की सहायता से साहा ने एक साइक्लोट्रॉन (cyclotron) का निर्माण कर भारत में नाभिकीय शोध की नींव रखी। नेहरू के सहयोग से उन्होंने नाभिकीय भौतिकी संस्थान (Institute of Nuclear Physics) की स्थापना की। बाद में इस संस्था का नाम बदलकर साहा नाभिकीय भौतिकी संस्थान (Saha Institute of Nuclear Physics) रखा गया। आगे चलकर साहा भारतीय विज्ञान विकास संघ (Indian Association for the Cultivation of Science) के निदेशक भी बने। इस संस्था के लिए उन्होंने अथक परिश्रम किया।

1952 में साहा कलकत्ता के उत्तर–पश्चिमी चुनाव क्षेत्र से लोकसभा के सदस्य चुने गए। उनके राजनैतिक दृष्टिकोण का झुकाव वामपन्थी विचारों की ओर था। रूढ़िवाद के अपने अनुभवों के कारण उन्हें अन्धविश्वासों से घृणा थी और वे उत्कट तर्कवादी बन गए थे। उन्होंने *साइंस एंड कल्चर (Science and Culture)* नामक पत्रिका आरम्भ की और अनेक वर्षों तक उसका सम्पादन किया।

अनेक बुद्धिजीवियों की तरह साहा भी मानते थे कि योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था से देश को समस्याओं से मुक्ति मिलेगी। उन्होंने बंगाल में बाढ़ के ताण्डव को खुद अनुभव किया था। इसलिए वे बाढ़ नियंत्रण के लिए नदी–घाटी परियोजनाओं के पक्षधर थे। उनके ही सुझाव पर दामोदर घाटी प्राधिकरण की स्थापना हुई, जिसने बाँध बनाकर बाढ़ का प्रकोप कम करने का प्रयास किया।

भारत में विविध क्षेत्रों में अलग–अलग प्रकार के कैलेण्डरों के अतार्किक विकास से साहा क्षुब्ध थे। इनकी त्रुटियों को सुधारने के लिए साहा की अध्यक्षता में कैलेण्डर संशोधन समिति का गठन हुआ, किन्तु गहरे

पूर्वाग्रहों के कारण इसमें आंशिक सफलता ही मिल पाई। साहा भाषाओं के आधार पर भारत के पुनर्गठन के भी दृढ़ पक्षधर थे।

साहा राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी (National Academy of Sciences) के संस्थापक थे। विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद की कई समितियों के वे अध्यक्ष थे। 1944-46 में वे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगॉल (वर्तमान में एशियाटिक सोसाइटी) के अध्यक्ष भी थे।

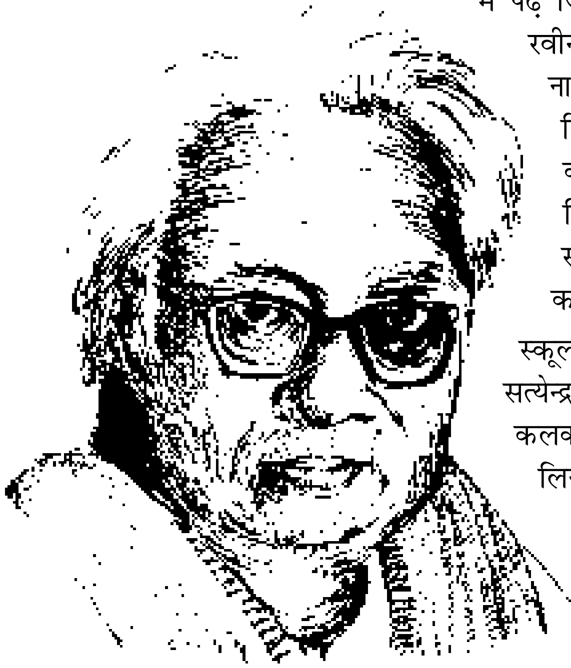
दिल्ली की एक आधिकारिक यात्रा के दौरान 16 फरवरी 1956 को दिल के दौरे से साहा का निधन हुआ। उनके संघर्षों और उपलब्धियों ने सिद्ध किया कि जाति और गरीबी के बन्धनों को अथक परिश्रम और लगन से तोड़ा जा सकता है।





भारत में वैज्ञानिक तो बहुत हैं, लेकिन उच्च कोटि के वैज्ञानिकों की बहुत कमी है। सत्येन्द्र नाथ बोस ऐसे बिरले वैज्ञानिकों में से एक थे। उन्होंने आइंस्टाइन के साथ मिलकर काम किया और सूक्ष्म कणों के एक वर्ग 'बोसॉन' (boson) का नाम उनके नाम पर रखा गया है।

सत्येन्द्र नाथ का जन्म 1 जनवरी 1894 को कलकत्ता में हुआ। उनके पिता रेलवे के लेखा विभाग में कार्यरत थे। शुरू में सत्येन्द्र नाथ भी उसी स्कूल में पढ़े जिसमें बचपन में कुछ समय के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर पढ़े थे। बाद में सत्येन्द्र नाथ हिन्दू स्कूल में गए जहाँ उनके शिक्षक उपेन्द्र बक्शी ने उन्हें गणित की परीक्षा में 100 में से 110 अंक दिए क्योंकि सत्येन्द्र नाथ ने निश्चित समय सीमा में ही सवाल को हल करने के कई तरीके सुझाए थे!



स्कूल की पढ़ाई खत्म करने के बाद सत्येन्द्र ने इंटर की परीक्षा पास की और कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया। यहाँ उन्हें प्रफुल्ल चन्द्र रे और

जगदीश चन्द्र बोस जैसे प्रतिभावान शिक्षकों ने पढ़ाया। सत्येन्द्र पढ़ाई में बहुत होशियार थे और उन्हें शरीर-क्रिया विज्ञान की परीक्षा में 100 प्रतिशत अंक मिले। 1913 में उन्होंने बी.एससी. (ऑनर्स) की परीक्षा पास की और प्रावीण्य सूची में प्रथम स्थान प्राप्त किया। एम.एससी. की परीक्षा में 92 प्रतिशत अंक पाकर उन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। दोनों ही अवसरों पर बोस के सहपाठी मेघनाद साहा दूसरे स्थान पर रहे।

1914 में जब सत्येन्द्र पढ़ ही रहे थे, उनका विवाह एक चिकित्सक की बेटी उषावती के साथ हुआ। 1916 में वे यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस में व्याख्याता बने। भौतिक विज्ञान विभाग में उनके पुराने मित्र और प्रतिस्पर्धी मेघनाद साहा भी उनके साथ थे। दोनों नवयुवक गणित में प्रवीण थे और उन्होंने स्वयं-शिक्षण द्वारा भौतिक विज्ञान में दक्षता हासिल की थी।

1918 में बोस का पहला शोधपत्र "द इनफ्लुएंस ऑफ द फाइनाइट वॉल्यूम ऑफ मॉलीक्यूल्स ऑन द इक्वेशन ऑफ स्टेट" *फिलोसॉफिकल मैगज़ीन (Philosophical Magazine)*, लन्दन में छपा। उनके अगले दो शोधपत्र पूर्णतः गणित से सम्बन्धित थे।

साहा के साथ मिलकर बोस ने आइंस्टाइन के "थ्योरी ऑफ जनरल रेलेटिविटी" (सार्वभौमिक सापेक्षता का सिद्धान्त) वाले शोधपत्र का मूल जर्मन से अँग्रेज़ी में अनुवाद किया। आइंस्टाइन के ब्रिटिश प्रकाशक ने इसका विरोध किया परन्तु आइंस्टाइन ने स्वयं इन युवा भारतीय वैज्ञानिकों को अनुमति प्रदान की।



1921 में ढाका में एक नए विश्वविद्यालय की स्थापना हुई जिसके प्रशासक प्रतिभाशाली शिक्षकों को नियुक्त करना चाहते थे। उन्होंने बोस को रीडर का पद स्वीकारने के लिए आमंत्रित किया। नए विश्वविद्यालय में सुविधाओं के अभाव के बावजूद बोस ने अपना जोश कायम रखा। बोस हर काम को उत्तम तरीके से करना पसन्द करते थे। इस नाते वे मैक्स प्लैंक के कुछ समीकरणों की व्युत्पत्ति के तरीकों से असन्तुष्ट थे और उन्होंने इस विषय पर एक अद्वितीय शोधपत्र लिखा – "प्लैंक्स लॉ एंड लाइट क्वांटम हाईपौथिसिस" – जिसमें उन्होंने समीकरणों की व्युत्पत्ति का एक बढ़िया तरीका सुझाया।

1924 में कोई भी विज्ञान पत्रिका उस शोधपत्र को छापने के लिए तैयार नहीं थी, इसलिए 30 वर्ष के बोस ने झिझकते हुए उसे अल्बर्ट आइंस्टाइन के पास टिप्पणी के लिए भेजा। आइंस्टाइन उस शोधपत्र से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने खुद उसका जर्मन में अनुवाद कर उसे प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक पत्रिका *जीटश्रिफ्ट फर फिसिक* (*Zeitschrift fur Physik*) में छपवाया। क्या कोई युवा भौतिक विज्ञानी इससे बड़े सम्मान की आशा कर सकता है?

बोस और आइंस्टाइन की जोड़ी ने मिलकर बोस-आइंस्टाइन सांख्यिकी की रचना की जो आज भी क्वांटम यांत्रिकी में उपयोग होती है। बोस-आइंस्टाइन सांख्यिकी का पालन करने वाले उप-पारमाण्विक कणों को बोस के नाम पर 'बोसॉन' कहा जाता है। अन्य उप-पारमाण्विक कणों के विपरीत अनगिनत बोसॉन एक समय में एक ही

अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। बोसॉन किसी निम्नतम ऊर्जा की स्थिति में एकत्रित होकर बोस–आइंस्टाइन संघनित (condensate) बनाते हैं।

अक्तूबर 1924 में बोस ने यूरोप का शैक्षणिक दौरा किया। उन्होंने एक वर्ष फ्रांस में बिताया, जिसमें से कुछ समय उन्होंने मादाम क्यूरी की प्रसिद्ध प्रयोगशाला में काम किया। इसके बाद उन्होंने एक साल जर्मनी में भी बिताया, जहाँ आइंस्टाइन के अलावा उन्होंने अन्य प्रसिद्ध वैज्ञानिकों – लाइस मेइटनर, ओट्टो हान, वुल्फगैंग पौली और हाइज़ेनबर्ग से भेंट की। उस समय बर्लिन को वैज्ञानिक शोध में दुनिया की राजधानी माना जाता था। बोस ने बर्लिन में बहुत कुछ सीखा जिसका उन्होंने ढाका में भरपूर उपयोग किया। बोस ने ढाका में प्रयोग करने की सुविधाएँ स्थापित कीं और छात्रों को उनका उपयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके कारण के.एस. कृष्णन जैसे अच्छे शोधकर्ता आकर्षित हुए, जिन्होंने मैग्नेटिक एनीसोट्रॉपीज़ (magnetic anisotropies) पर बुनियादी काम किया और बाद में अनेक शोधपत्र लिखे।

ढाका में बिताया समय शायद बोस के जीवन का सबसे सुखद काल था। परन्तु बढ़ता हुआ साम्प्रदायिक तनाव देख उन्हें बेहद दुख होता था। इसलिए 1947 में बँटवारे के बाद जब उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में खैरा प्रोफेसर के पद का आमंत्रण मिला तो उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया।

पचास के दशक के मध्य प्रोफेसर पी.ए.एम. डिराक अपनी पत्नी के साथ कलकत्ता आए। एक दिन वे बोस के साथ एक ही कार में बैठे थे। बोस ने उन्हें पिछली सीट पर बैठाया। अगली सीट पर चालक के साथ बोस स्वयं बैठे। जगह की कमी थी, फिर भी बोस ने कुछ छात्रों को अपने साथ बैठने का आग्रह किया। डिराक ने हैरानी से पूछा कि क्या इससे भीड़ नहीं हो जाएगी? बोस ने पीछे मुड़कर अपने प्यारे अंदाज़ में कहा, "यहाँ हम बोस सांख्यिकी में विश्वास करते हैं।" डिराक ने अपनी पत्नी को समझाते हुए कहा, "बोस सांख्यिकी में चीज़ें एक स्थान पर भीड़ कर देती हैं।"

उस समय शोध संस्थाओं का शोध अनुदान बहुत कम होता था। उदाहरण के लिए, बोस और अन्य प्राध्यापकों को उस काल में केवल 2,500 रुपए सालाना का शोध अनुदान ही मिलता था। परन्तु इसके बावजूद कलकत्ता

विश्वविद्यालय की ख्याति एक सक्रिय व रचनात्मक शोध केन्द्र के रूप में पूरे भारत में फैली। परिश्रम और लगन ने साधनों के अभाव की पूर्ति की।

बोस की प्रयोगशाला क्ष–किरण क्रिस्टलिकी (X-ray crystallography) के अध्ययन के क्षेत्र में प्रख्यात हो गई। 1945–48 के काल में बोस को भारतीय भौतिकीय सोसाइटी (Indian Physical Society) का अध्यक्ष चुना गया। बाद में भारत सरकार ने 1954 में उन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया और 1958 में वे रॉयल सोसाइटी, लन्दन के फैलो चुने गए। बोस का अन्तिम महत्वपूर्ण वैज्ञानिक योगदान यूनिफाइड फील्ड थ्योरी (unified field theory) के विकास की दिशा में किया गया कार्य था, जिसमें उन्होंने विद्युत–चुम्बकीय बलों और गुरुत्वाकर्षण बलों को जोड़ने की कोशिश की।

1956 में बोस विश्वभारती के उपकुलपति बने, जो शान्ति निकेतन के नाम से ज़्यादा प्रख्यात है और जिसका नाम सदा के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ जुड़ा हुआ है। विज्ञान और आध्यात्म, प्राचीन पूर्व तथा आधुनिक पश्चिम के बीच सेतु का काम करने वाली इस संस्था ने स्वाभाविक रूप से बोस को आकर्षित किया। बोस के स्वाभाविक दोस्ताना अन्दाज़ की वजह से उन्हें वहाँ लोगों से मित्रता स्थापित करने में कोई दिक्कत नहीं हुई। परन्तु प्रशासन के दाँव–पेंच उन्हें नहीं आते थे और उनके द्वारा सुझाए सुधारों का घोर विरोध हुआ। इसलिए 1959 में वे खुशी–खुशी कलकत्ता विश्वविद्यालय वापस लौट गए।

बोस का व्यक्तित्व जटिल था और उन्हें किसी खाँचे में फिट करना आसान नहीं है। एक विलक्षण गणितज्ञ की हैसियत से उन्होंने केवल 25 शोधपत्र लिखे। ज्ञान के व्यापक क्षेत्र पर उनकी पकड़ थी। उन्होंने रसायन विज्ञान, खनिज विज्ञान, जीव विज्ञान, मृदा विज्ञान, दर्शन शास्त्र, पुरातत्व विज्ञान, ललित कलाओं, साहित्य और भाषाओं जैसे विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किया। उन्हें वाद्य संगीत का बहुत शौक था और वे इसराज नामक वाद्ययंत्र बजाने में कुशल थे। प्रसिद्ध चित्रकार जामिनी राय के साथ अक्सर वे भित्तिचित्रों पर चर्चा करते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी पुस्तक *विश्व*

परिचय बोस को समर्पित की थी। बांग्ला भाषा में विज्ञान के प्रचार–प्रसार में उनकी गहरी रुचि थी और उन्होंने बंगीय विज्ञान परिषद की स्थापना की प्रेरणा दी, जिसने बांग्ला भाषा में *ज्ञान और विज्ञान* नामक लोकप्रिय विज्ञान पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि उच्च कोटि की वैज्ञानिक सोच केवल मातृभाषा में ही सम्भव है। उन्हें नौकरशाही और फिजूल के तामझाम से सख्त नफरत थी। कोई भी, कभी भी बिना पूर्व सूचना दिए हुए उनसे मिल सकता था। वे अपने मित्रों से घण्टों बातें करते थे और उसे कभी भी समय की बरबादी नहीं मानते थे।





शान्ति स्वरूप भटनागर

(1894 - 1955)

मैं डॉक्टर भटनागर के बारे में यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि अगर वे न होते तो हमें इतनी अधिक राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ देखने को नहीं मिलतीं।

– जवाहरलाल नेहरू

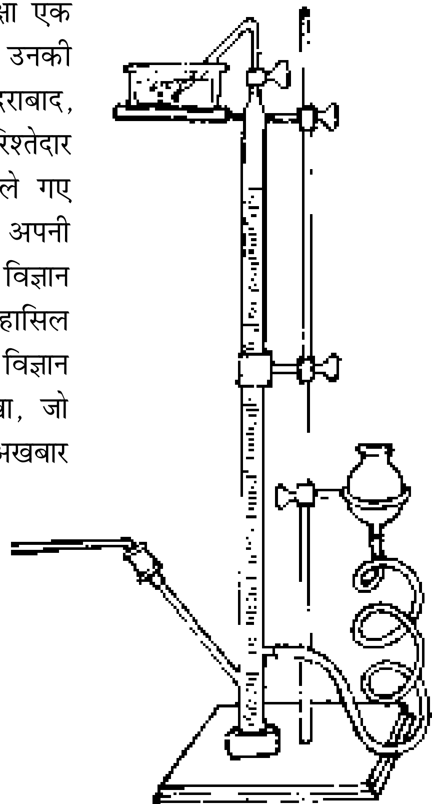
शान्ति स्वरूप भटनागर ने होमी भाभा, महालनोबिस और विक्रम साराभाई के साथ मिलकर स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिक अधोसंरचनाओं के निर्माण का बुनियादी काम किया। एक विलक्षण वैज्ञानिक होने के साथ-साथ भटनागर ने ऐसी संस्थाओं को स्थापित किया जिनसे भारत में विज्ञान का विकास हुआ। उन्होंने दिखाया कि समाज के लिए विज्ञान तभी सार्थक हो सकता है जब वैज्ञानिक उसका उपयोग लोगों की व्यावहारिक समस्याएँ हल करने के लिए करें।



भटनागर का जन्म 21 फरवरी 1894 को भेड़ा नामक स्थान पर हुआ,

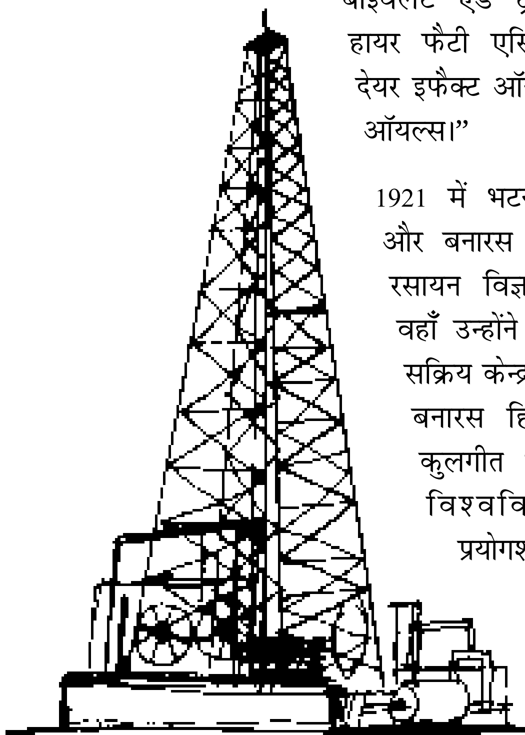
जो अब पाकिस्तान के शाहपुर ज़िले में स्थित है। उनके पिता प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे। उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातक की डिग्री हासिल की थी तथा स्थानीय हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक थे। दुर्भाग्यवश, जब शान्ति स्वरूप केवल आठ माह के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। इससे उनके परिवार को घोर आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ा। शान्ति स्वरूप का लालन–पालन उनके नाना प्यारेलाल ने किया जो रुड़की के प्रसिद्ध इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़े थे और जाने–माने इंजीनियर थे। बचपन से ही शान्ति स्वरूप की विज्ञान में रुचि जगी। वे दिन भर यांत्रिक खिलौनों को जोड़ते–तोड़ते और अपने नाना के औज़ारों से खेलते। यहीं पर उनका परिचय उत्कृष्ट उर्दू शायरी और साहित्य से भी हुआ।

शान्ति स्वरूप की प्रारम्भिक शिक्षा एक निजी मकतब में हुई। 1907 तक उनकी पढ़ाई ए.वी. हाईस्कूल, सिकन्दराबाद, उत्तर प्रदेश में हुई। फिर एक रिश्तेदार की सिफारिश पर वे लाहौर चले गए और वहाँ दयाल सिंह हाईस्कूल में अपनी शिक्षा जारी रखी। यहाँ उर्दू और विज्ञान दोनों विषयों में उन्होंने श्रेष्ठता हासिल की। 17 साल की उम्र में उन्होंने विज्ञान पर अपना पहला शोधपत्र लिखा, जो इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले अखबार *लीडर (Leader)* में छपा। इसमें उन्होंने शीरे (गुड़ रस) और कार्बनयुक्त पदार्थ को दाब में गर्म कर बैटरियों में लगने वाले कार्बन छड़ (इलेक्ट्रोड) बनाने की वैकल्पिक विधि बताई थी।



1916 में शान्ति स्वरूप ने

फोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज, लाहौर से बी.एससी. पूरी की। वहीं से 1919 में रसायन विज्ञान में एम.एससी. की परीक्षा पास की। ऐसा लगता है कि उस समय शिक्षा व्यवस्था अधिक लचीली थी। उस वक्त कोई भी स्नातक छात्र भौतिक विज्ञान छोड़कर रसायन विज्ञान ले सकता था। आजकल ऐसी कल्पना करना भी असम्भव है! उन्हें दयाल सिंह कॉलेज से वज़ीफा मिला, जिसकी सहायता से पढ़ने के लिए वे इंग्लैण्ड के रास्ते अमरीका गए। उस समय प्रथम विश्वयुद्ध का दौर था, इसलिए उन्हें अमरीका जाने के लिए जहाज़ मिलने में दिक्कत हुई। इस कारण उन्होंने इंग्लैण्ड में ही रहने का निश्चय किया। उन्होंने यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में दाखिला लिया और वहाँ प्रसिद्ध भौतिक रसायनशास्त्री प्रोफेसर एफ.जी. डॉनान के साथ काम किया। 1921 में उनके शोधग्रन्थ पर उन्हें डी.एससी. की डिग्री मिली। उनके शोध का विषय था – "ऑन सॉल्यूबिलिटी ऑफ बाइवैलेंट एंड ट्राईवैलेंट सॉल्ट्स ऑफ हायर फैटी एसिड्स इन ऑयल्स एंड देयर इफैक्ट ऑन द सरफेस टेंशन ऑफ ऑयल्स।"



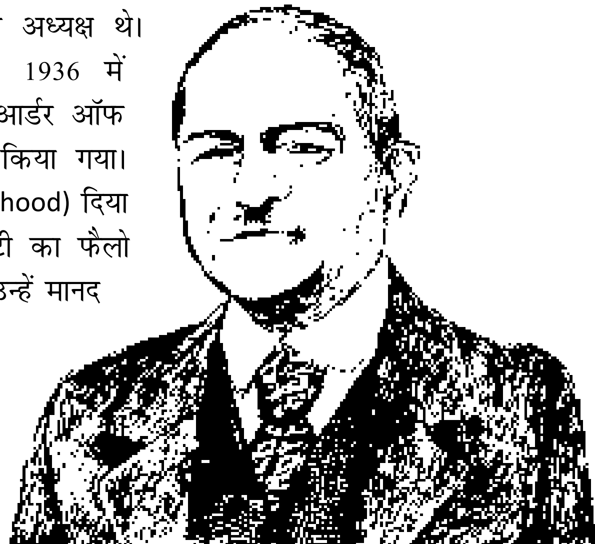
1921 में भटनागर भारत वापस लौटे और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान के प्राध्यापक बने। वहाँ उन्होंने रसायन विज्ञान के एक सक्रिय केन्द्र की स्थापना की। उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का कुलगीत भी लिखा। 1924 में वे विश्वविद्यालय रासायनिक प्रयोगशाला के निदेशक के रूप में पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर चले गए और वहाँ 1940 तक रहे। इन 16 सालों में उन्होंने

100 से अधिक शोधपत्र लिखे। मौलिक वैज्ञानिक अनुसन्धान का शायद यह उनका सबसे सक्रिय काल था। कलिलीय (Colloidal) और चुम्बकीय रसायन में योगदान के साथ–साथ उन्होंने कई औद्योगिक समस्याओं के हल भी खोजे। मिसाल के लिए, एटॉक ऑयल कम्पनी ने तेल की खोज के दौरान पाया कि उनके बरमे कीचड़ और नमकीन पानी में अटककर फँस जाते थे। भटनागर ने इस समस्या का एक सरल उपाय खोजा। उन्होंने गोंद का उपयोग करके मिट्टी का गाढ़ापन कम किया जिससे समस्या हल हो गई। इस व्यावहारिक अनुसन्धान से कम्पनी के मालिक इतने खुश हुए कि शोध और विकास के कार्य के लिए 1925 में उन्होंने भटनागर को डेढ़ लाख रुपए दिए! इस राशि से भटनागर ने पंजाब विश्वविद्यालय में पेट्रोलियम अनुसन्धान के लिए एक नया विभाग खोला। अगले दस वर्षों में भटनागर और उनके छात्रों ने कई रोज़मर्रा की समस्याओं पर शोध किया – मोम, मिट्टी के तेल से जलने वाली बाती की लौ की ऊँचाई बढ़ाना, लोहे को जंग लगने से बचाना आदि। इसके लिए उन्हें कई पेटेंट भी मिले। रॉयल्टी का पचास प्रतिशत भाग विश्वविद्यालय में वैज्ञानिक शोधकार्य के लिए खर्च किया जाता था। भटनागर ने बुनियादी शोध को दैनन्दिन पेश आने वाली समस्याओं के हल के साथ जोड़ा। ये दोनों काम दरअसल एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उन्होंने ज्ञान के समुचित उपयोग से सम्पत्ति का निर्माण किया। बौद्धिक कार्य के मूल्य को उन्होंने बहुत पहले ही पहचान लिया था।

1930 के दशक में भारत के प्राकृतिक संसाधनों तथा उद्योगों के विकास के लिए अनुसन्धान की प्रयोगशालाएँ नहीं थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध से ठीक पहले भारत सरकार ने वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान बोर्ड (Board of Scientific and Industrial Research) स्थापित किया। दिसम्बर 1939 में भटनागर को वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान पर भारत सरकार का सलाहकार नियुक्त किया गया। इस प्रकार 26 सितम्बर 1942 को स्थापित वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद (Council of Scientific and Industrial Research) के साथ उनके 15 सालों के साथ का सूत्रपात हुआ।



भटनागर ने वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद के लिए एक स्पष्ट खाका तैयार किया। पुराने लोग अभी भी मुस्कुराते हुए इस किस्से को दोहराते हैं कि किस प्रकार भटनागर सुबह–सुबह टहलने के समय प्रधानमंत्री नेहरू से मिलते, उनसे एक नई प्रयोगशाला की स्थापना की अनुमति लेते और दफ्तर खुलने से पहले उसके सारे कागज़ात तैयार कर लेते! यह उनकी दूरदर्शिता का परिणाम है कि भटनागर के देहान्त के समय देश में 12 राष्ट्रस्तरीय प्रयोगशालाएँ कार्यरत थीं। इनमें पुणे स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला और दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला भी शामिल थीं। भटनागर ने केरल के तटों पर बहुमूल्य मोनेज़ाइट (monazite) के समुचित दोहन के लिए इण्डियन रेअर–अर्थ्स लिमिटेड की स्थापना की। वे कई निजी तेल शोधन कम्पनियाँ स्थापित करवाने में भी सफल रहे। भटनागर कई उच्च पदों पर आसीन रहे। वे परमाणु ऊर्जा आयोग के सचिव थे, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद के निदेशक थे और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष थे। उन्हें अनेक सम्मान भी मिले। 1936 में उल्लेखनीय कार्य के लिए उन्हें आर्डर ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर से सम्मानित किया गया। 1941 में उन्हें नाइटहुड (Knighthood) दिया गया और 1943 में रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानद उपाधियाँ भी प्रदान कीं।



बचपन में भटनागर पर ब्राह्म–समाज का गहरा प्रभाव पड़ा था। अपनी पत्नी लाजवन्ती को वे बहुत चाहते थे। वे रूमानी प्रकृति के

इन्सान थे और सेवानिवृत्ति के बाद खेती करना चाहते थे। उनका सपना था कि दोपहर को खेत में उनकी पत्नी उनके लिए खाना और मटकी में छाछ लेकर आए!

1 जनवरी 1955 को दिल के दौरे से भटनागर का देहान्त हुआ। 60 वर्ष के व्यस्त जीवन में उन्होंने अनेक उपलब्धियाँ हासिल कीं। शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने अमिट छाप छोड़ी। वे विज्ञान के उपयोग से देश की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में विश्वास रखते थे। एक दूरदर्शी दृष्टा के नाते उन्होंने स्वतंत्र भारत में पुख्ता वैज्ञानिक अधोसंरचना की आवश्यकता को समझा। वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद का उनके द्वारा बोया पौधा धीरे-धीरे एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। आज वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद की 38 प्रयोगशालाओं में अन्तरिक्ष विज्ञान, जैव-प्रौद्योगिकी (biotechnology) तथा रसायन विज्ञान से लेकर तमाम अन्य अग्रणी क्षेत्रों में अनुसन्धान चल रहा है।

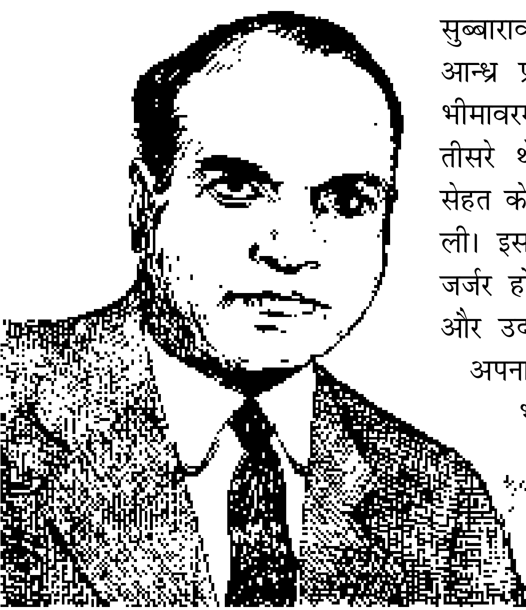


येलाप्रगदा सुब्बाराव
(1895 - 1948)

शायद आपने डॉक्टर येलाप्रगदा सुब्बाराव का नाम पहले कभी नहीं सुना हो। फिर भी, क्योंकि वे थे, इसलिए हो सकता है कि आप कुछ अधिक साल जी सकें।

— डोरॉन के. एंट्रिम

न्यू यॉर्क हेरल्ड ट्रिब्यून (New York Herald Tribune) ने डॉ. येलाप्रगदा सुब्बाराव को "शताब्दी की विशिष्ट चिकित्सकीय बुद्धि" के रूप में वर्णित किया। सुब्बाराव ने कई जानलेवा बीमारियों का इलाज खोजा और अपने शोधकार्य से पूरी दुनिया में लाखों-करोड़ों लोगों की जान बचाई।



सुब्बाराव का जन्म 12 जनवरी 1895 को आन्ध्र प्रदेश के पश्चिम गोदावरी ज़िले के भीमावरम गाँव में हुआ। सात भाई-बहनों में वे तीसरे थे। उनके पिता जगन्नाथम ने खराब सेहत के कारण समय से पहले सेवानिवृत्ति ले ली। इस कारण परिवार की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई। स्कूल में सुब्बाराव खोए-खोए और उदासीन रहते। एक बार बनारस जाकर अपना भाग्य आज़माने के लिए वे घर से भाग गए। परन्तु उनकी दृढ़प्रतिज्ञ माँ

वेनकम्मा ने उन्हें रास्ते में ही पकड़ लिया और वापस स्कूल भेजा। अपने पति की मृत्यु के बाद सुब्बाराव की पढ़ाई जारी रखने के लिए वेनकम्मा ने अपना मंगलसूत्र बेच दिया।

प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास में पढ़ते समय सुब्बाराव ने अपना अधिकांश समय रामकृष्ण मिशन आश्रम में बिताया। उनमें वैराग्य की प्रबल प्रवृत्ति थी और वे संन्यास लेना चाहते थे। परन्तु उनकी माँ को यह बिलकुल पसन्द नहीं था। अन्त में सुब्बाराव ने मद्रास मेडिकल कॉलेज में दाखिला लिया ताकि चिकित्सक बनने के बाद वे मिशन के किसी अस्पताल में सेवा कर सकें। परन्तु उनका परिवार पढ़ाई का खर्च उठाने में असमर्थ था। इसका हल उन्होंने यूँ निकाला कि शादी की और अपने ससुर से मदद के लिए गुहार की! सुब्बाराव की माँ को शादी का निर्णय एक अन्य कारण से अच्छा लगा। उन्हें लगा कि शादी के बाद धर्म के प्रति सुब्बाराव का ‘पागलपन’ कुछ कम हो जाएगा। इस प्रकार 10 मई 1919 को सुब्बाराव का विवाह उनसे 12 वर्ष छोटी शेषागिरि से सम्पन्न हुआ। परन्तु सुब्बाराव सारा समय काम में मस्त रहते थे। इसलिए शेषागिरि को उनका बहुत कम साथ मिलता था।

महात्मा गाँधी के स्वदेशी आन्दोलन से प्रेरित होकर सुब्बाराव ने विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया और खादी का कोट पहनने लगे। इससे उनके अँग्रेज़ प्राध्यापक बहुत नाराज़ हुए और इस वजह से सुब्बाराव को एम.बी. बी.एस. की डिग्री से वंचित रहना पड़ा। जब उन्हें निचले स्तर की डिग्री एल.एम.एस. प्रदान की गई तो सुब्बाराव ने रोष में आकर पश्चिमी उपचार पद्धति छोड़ दी और मद्रास आयुर्वेद कॉलेज में शरीर रचना शास्त्र के व्याख्याता बन गए।

अमरीका से आए एक चिकित्सक ने उन्हें उच्च शिक्षण के लिए अमरीका जाने की सलाह दी। एक दानी संस्था के अनुदान और ससुर की आर्थिक मदद से सुब्बाराव अमरीका के लिए रवाना हुए। वे अपनी किशोरवय पत्नी से तीन साल में स्वदेश वापस आने का वादा करके गए। परन्तु वे दुबारा कभी अपनी पत्नी का मुँह नहीं देख पाए। 26 अक्तूबर 1923 को सुब्बाराव बॉस्टन पहुँचे। उस वक्त उनकी जेब में मात्र 100 अमरीकी डॉलर थे। उनके

पास केवल एल.एम.एस. की डिग्री थी। इसलिए उनको न वज़ीफा और न ही कोई नौकरी मिली। शुरू में प्रोफेसर रिचर्ड स्ट्रांग उनकी फीस भरते थे और उन्हें जेबखर्च के लिए पैसे देते थे। खाली समय में पैसे कमाने के लिए सुब्बाराव अन्य छोटे–मोटे कामों के अलावा अस्पताल में रोगियों के मल–मूत्र के बर्तन भी साफ करते थे।

अन्ततः वे हार्वर्ड मेडिकल स्कूल से ट्रॉपिकल मेडिसिन (Harvard Medical School of Tropical Medicine) में डिप्लोमा पाने में सफल रहे और डॉक्टर सायरस फिस्क की जैवरसायन (biochemistry) प्रयोगशाला में नौकरी करने लगे। यहाँ उन्होंने रक्त और मूत्र में फॉस्फोरस की मात्रा मापने की प्रसिद्ध फिस्क–सुब्बाराव पद्धति का आविष्कार किया। यह अत्यधिक संवेदनशील तरीका आज सभी अस्पतालों में इस्तेमाल किया जाता है और जैवरसायन विज्ञान के सभी छात्रों को पढ़ाया जाता है। आजकल इस सशक्त पद्धति द्वारा गलग्रन्थि तथा वृक्क बालशोष की बीमारियों की जाँच भी की जाती है।

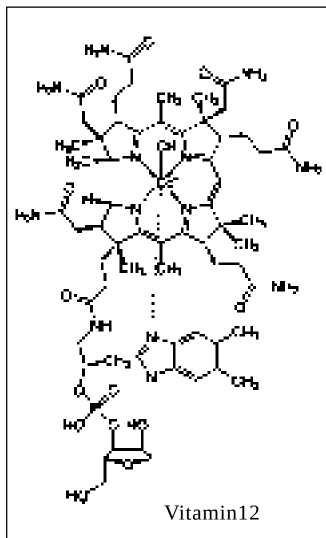
इस तरीके द्वारा सुब्बाराव ने एक स्थापित मान्यता को चुनौती दी। मान्यता यह थी कि ग्लाइकोजेन ही माँसपेशियों को सिकोड़ने के लिए लगने वाली ऊर्जा का स्रोत है। इस दावे के कारण 1922 में हिल और मेयरहौफ को चिकित्सा और शरीर–क्रिया विज्ञान का नोबल पुरस्कार मिला था। सुब्बाराव की खोज के अनुसार एडीनोसीन ट्राईफॉस्फेट (ए.टी.पी.) हरेक जैवरासायनिक प्रक्रिया को ऊर्जा प्रदान करता है जिसमें माँसपेशियों का सिकुड़ना भी शामिल है। इस कारण थकी हुई माँसपेशी की तुलना में आराम कर रही माँसपेशी में अधिक ए.टी.पी. होगी। यह खोज अप्रैल 1927 को *साइंस (Science)* नामक विज्ञान पत्रिका में छपी। इस शोधकार्य के लिए सुब्बाराव को पीएच.डी. की डिग्री मिली। इससे वैज्ञानिक जगत् में सुब्बाराव का सिक्का चमक उठा और लोग उनके काम को बहुत

ATP phosphate **ADP**

आदर से देखने लगे। इस विलक्षण कार्य के बाद ही रॉकफेलर फाउण्डेशन ने उन्हें एक फैलोशिप प्रदान की।

इसके बाद सुब्बाराव ने स्थायी रक्तक्षीणता (pernicious anaemia) पर काम किया, जिससे काफी लोग प्रभावित होते हैं। उन्होंने सुअर के यकृत से विटामिन बी-12 निकाला जो अनीमिया के खिलाफ बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ। इस खोज से सारी दुनिया में विटामिनों को खोजने की होड़ जैसी लग गई और आने वाले सालों में विटामिनों के तमाम अन्य स्रोत खोजे गए।

सुब्बाराव को लगा कि विश्वविद्यालयों की तुलना में बड़ी दवा कम्पनियों में शोधकार्य की अधिक सुविधाएँ मिलने की सम्भावना है। इसलिए 1940 में उन्होंने विश्वविख्यात लेडरली लेबोरेटरीज़ (Lederle Laboratories) नामक कम्पनी में अनुसन्धान शुरू किया। यहाँ काफी जद्दोजेहद के बाद वे फोलिक अम्ल का संश्लेषण करने में सफल हुए। पिछले 50 सालों में विटामिन बी-12 के अलावा फोलिक अम्ल भी अनीमिया की रोकथाम में बहुत कारगर साबित हुआ है।

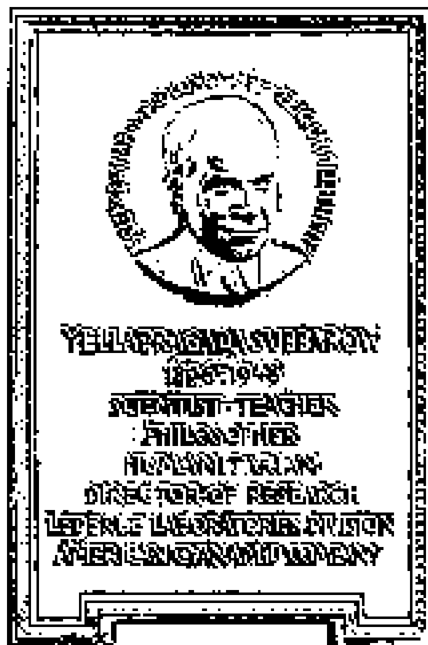

Vitamin12

सुब्बाराव की अनुसन्धान टीम इन्सानों की तमाम बीमारियों का इलाज खोजने में तत्परता से जुटी थी। सुब्बाराव ने इस समूह का आगे बढ़कर नेतृत्व किया। एक चिकित्सक की हैसियत से वे वैज्ञानिकों को इन्सानी बीमारियों के उपचार खोजने के लिए प्रेरित करते और एक वैज्ञानिक की हैसियत से वे चिकित्सकों को रोगाणुओं के खात्मे के लिए दवाई खोजने में मदद करने के लिए प्रोत्साहित करते। सुब्बाराव एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक थे – वे रसायनशास्त्रियों के बीच रसायनशास्त्री और चिकित्सकों की संगत में चिकित्सक थे।

आखिरी दौर में वे एक ऐसी रामबाण दवा की खोज में थे जिससे सभी

प्रकार के बुखारों का इलाज हो सके। 1928 में अलेक्ज़ैण्डर फ्लेमिंग ने कीटाणुओं को मारने वाली पेनिसिलीन फफूँद की खोज की थी। इसी से प्रतिजैविक (antibiotics) के स्वर्ण युग का प्रारम्भ हुआ। सुब्बाराव ने तुरन्त इस औषधि की सम्भावनाओं को पहचाना और खुद प्रतिजैविकों पर अनुसन्धान शुरू कर दिया। इसके लिए उन्होंने एक वनस्पतिशास्त्री को दुनिया भर से लाए मिट्टी के नमूनों में से फफूँद की सही किस्में छाँटने के काम में लगाया। अन्त में वे फफूँद ए-377 को उगाने में सफल रहे। इस फफूँद की विशेषता थी कि वह बहुत-सी बीमारियों के घातक कीटाणुओं के लिए कोबरा साँप के ज़हर के समान थी, परन्तु मेज़बान प्राणियों के साथ बिल्ली के बच्चे जैसा दोस्ताना व्यवहार करती थी। इस शोधकार्य की परिणति टेट्रासाइक्लीन (tetracycline) में हुई। यह प्रतिजैविक दुनिया में सबसे अधिक इस्तेमाल होने वाली दवाइयों में से है।

सुब्बाराव लगातार अपने अनुसन्धान का दायरा बढ़ा रहे थे और अन्य बीमारियों का इलाज खोज रहे थे। अगले चरण में उन्होंने पोलियो और कैंसर पर शोध किया। उनके द्वारा विकसित एक दवा टियोरपटेरिन (teorpterin) रक्त कैंसर में उपयोगी सिद्ध हुई।



9 अगस्त 1948 में जब सुब्बाराव काम पर नहीं आए तो उनके साथियों को चिन्ता हुई। सुब्बाराव ने पहले कभी ऐसा नहीं किया था। घर खोलने पर सुब्बाराव को मृत पाया गया; उन्हें दिल का दौरा पड़ा था। तब उनकी आयु मात्र 53 साल थी। 1923 में भारत छोड़ने के बाद वे कभी अपने वतन वापस नहीं लौटे।

सुब्बाराव ने अपने वैज्ञानिक आविष्कारों को कभी नहीं बेचा और न उन्होंने अपनी दवाइयों पर कभी पेटेंट लिए। उन्होंने कभी भी पत्रकारों को साक्षात्कार नहीं दिए और सभी सम्मानों और पदकों को नकारा। सुब्बाराव की जन्म–शताब्दी 1995 में मनाई गई। उनके विलक्षण कार्य के लिए उन्हें भारत के सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से सम्मानित करने की सिफारिश की गई। अमरीकी नागरिकता के लिए पात्रता होने के बावजूद वे सारी ज़िन्दगी भारतीय नागरिक बने रहे। और यद्यपि उन्होंने अधिकांश योगदान अमरीका में रहकर किया परन्तु वह सब उनकी भारतीय प्रतिभा और प्रेरणा के कारण ही सम्भव हो पाया। धन और प्रसिद्धि में उन्हें कोई रुचि नहीं थी। वे अपनी सारी ज़िन्दगी जानलेवा बीमारियों का इलाज खोजते रहे और उससे समस्त मानवता का कल्याण हुआ।



सालिम अली

(1896 - 1987)

आपके जीवन का सन्देश सभी दिशाओं में फैल रहा है और हमें विश्वास है कि बया आपका नाम अपने घोंसलों में बुनेंगी, और अबाबील पक्षी आपके सम्मान में आकाश में अण्डाकार गोते लगाएँगी।

— पॉल गैटी संरक्षण पुरस्कार समारोह से उद्धृत

सालिम अली 20वीं सदी में निर्विवाद रूप से भारत के सबसे महान पक्षी विज्ञानी थे। लोग प्यार से उन्हें 'भारत का बर्डमैन' कहते थे। उन्होंने लगभग 80 वर्षों तक भारतीय उपमहाद्वीप के पक्षियों का अवलोकन किया और उनकी जानकारी को किताबों में सँजोया।



सालिम अली का जन्म एक धनी व्यापारी परिवार में हुआ था। बचपन में वे काफी कमज़ोर थे और इस कारणवश उन्हें अक्सर स्कूल से छुट्टी लेनी पड़ती थी। पर बाद में नियमित कसरत से उनकी ताकत बढ़ी और आगे चलकर वे कठिन और दुर्गम यात्राएँ आसानी से

कर सके। 10 साल की उम्र में ही उनके सिर पर से माता–पिता का साया उठ गया। उसके बाद मामा अमरुद्दीन तैयबजी और मामी हमीदा ने बहुत प्यार से उनका लालन–पालन किया। पक्षी अवलोकनकर्ता और शोधकर्ता के रूप में अपने लम्बे जीवनकाल में सालिम अली कभी सरकारी नौकरी या अनुदान पर निर्भर नहीं रहे। उनका प्रगतिशील परिवार सदैव उनके साथ खड़ा रहा और जीवन भर उनके काम में सहयोग करता रहा। उन्होंने बम्बई के सेंट ज़ेवियर कॉलेज में प्राणी विज्ञान पढ़ा, परन्तु उन्हें बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़कर परिवार के टंगस्टन के व्यापार की देख–रेख के लिए बर्मा (म्यांमार) जाना पड़ा। परन्तु व्यापार की दुनिया उन्हें रास नहीं आई और वे जल्द ही वापस जीव विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। 1918 में एक दूर की रिश्तेदार तेहमीना के साथ उनका विवाह हुआ।

भारतीय प्राणीवैज्ञानिक सर्वेक्षण (Zoological Survey of India) में जब उन्हें नौकरी नहीं मिली तो उन्होंने कुछ समय के लिए बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में गाइड का काम किया। 1928 में वे जर्मनी गए और वहाँ के प्राणीविज्ञान संग्रहालय बर्लिन (Zoological Museum of Berlin) के प्रोफेसर इरविन स्ट्रेसमैन से प्रशिक्षण लिया। 1930 में अच्छी नौकरी न मिलने की वजह से वे बम्बई के निकट एक तटवर्ती गाँव किहिम में बस गए। वहाँ उन्होंने बया पक्षियों का सूक्ष्म अवलोकन किया। बया पक्षियों के प्रजनन जीव विज्ञान के अध्ययन ने उन्हें एक विश्वस्तरीय पक्षी निरीक्षक के रूप में स्थापित कर दिया। उन्होंने पाया कि नर बया ही घोंसला बनाता है। फिर अचानक एक दिन मादा बया आकर आधे बने घोंसले और नर बया की मालकिन बन जाती है! बया के बच्चे सख्त अनाज हज़म नहीं कर सकते,



इसलिए वे सिर्फ छोटे व मुलायम कीड़े ही खाते हैं। इस प्रकार बया पक्षी हानिकारक कीड़े-मकोड़ों की आबादी पर काबू रखने में अहम भूमिका निभाते हैं। सालिम अली ने आर्थिक पक्षी विज्ञान का विषय प्रत्येक कृषि विश्वविद्यालय में पढ़ाए जाने की सिफारिश की।

कभी-कभार सालिम अली ने पक्षियों का शिकार भी किया – कभी भोजन के लिए – परन्तु अधिकांशतः वैज्ञानिक निरीक्षण के लिए। परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने चिड़ियों का शिकार पूरी तरह बन्द कर दिया। वे केवल दूरबीन की सहायता से पक्षी निरीक्षण करने लगे। कभी-कभी वे पक्षी की पहचान निश्चित करने के लिए उसे पकड़कर पैर में एक निशानी-छल्ला (identity ring) फँसाकर छोड़ देते थे। पैर में लगे छल्ले से पक्षी व्यवहार का अध्ययन करने में सहायता मिलती।

उनके अध्ययन से फूलचुकी (flower peckers) और शक्करखोरा (Sunbirds) द्वारा आकाश बेल के परागण और बीज प्रसार के बारे में प्रामाणिक जानकारी मिली। उन्होंने कच्छ के रण में राजहंस का भी गहन अध्ययन किया और हैदराबाद, त्रावणकोर, कोचीन, अफगानिस्तान, कैलाश मानसरोवर, कच्छ, मैसूर, गोवा, सिक्किम, भूटान और अरुणाचल प्रदेश के पक्षियों का क्षेत्रीय सर्वेक्षण भी किया। उन्होंने बताया कि जल-पक्षियों की कई प्रजातियाँ पलायन कर साइबेरिया तक जाती हैं। अपने पूरे अनुसन्धान में उन्होंने सूक्ष्म टिप्पणियाँ लीं और ज्ञान के इस अपार भण्डार को अनेक सचित्र पुस्तकों में लिपिबद्ध किया। 1941 में उन्होंने *बुक ऑफ इण्डियन बर्ड्स (भारतीय पक्षी)* लिखकर शुरुआत की; उसके बाद उन्होंने द *बर्ड्स ऑफ कच्छ (कच्छ के पक्षी)*,





इण्डियन हिल बर्ड्स (भारत के पहाड़ी पक्षी), *बर्ड्स ऑफ केरला (केरल के पक्षी)* और *बर्ड्स ऑफ सिक्किम (सिक्किम के पक्षी)* किताबें लिखी। बाद में उन्होंने 10 खण्डों की सुप्रसिद्ध पुस्तक *हैण्डबुक ऑफ द बर्ड्स ऑफ इण्डिया एंड पाकिस्तान (भारत तथा पाकिस्तान के पक्षी)* लिखी। पक्षियों पर उनकी अन्तिम पुस्तक *फील्ड गाइड टू द बर्ड्स ऑफ ईस्टर्न हिमालयाज़ (पूर्वी हिमालय के पक्षियों की फील्ड गाइड)* 1977 में छपी। 1985 में सालिम अली ने अपनी दिलकश जीवनी, द *फॉल ऑफ ए स्पैरो (The Fall of a Sparrow)* लिखी। पक्षी जीवन के गहरे ज्ञान और पर्यावरण के नाजुक सन्तुलन की समझ के कारण वे पर्यावरण संरक्षण की ओर उन्मुख हुए। सालिम अली की सिफारिशों की वजह से ही केरल में साइलेंट वैली (Silent Valley) और राजस्थान में भरतपुर पक्षी अभयारण्य की स्थापना हुई। विज्ञान और प्राकृतिक संरक्षण की ओर उनका सम्पूर्ण समर्पण अद्वितीय था। 1883 में स्थापित संस्था बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी (Bombay Natural History Society-BNHS) का अस्तित्व बचाने के लिए उन्होंने पण्डित नेहरू को पत्र लिखकर आर्थिक अनुदान की अपील की।

जैविक विविधता के लिहाज़ से भारत की गिनती विश्व के प्रमुख 12 देशों में होती है। उसके बावजूद हमारे पास अपनी जैविक सम्पदा की विस्तृत व प्रामाणिक जानकारी नहीं है। पुराने दस्तावेज़ों के अनुसार मुगल बादशाहों ने प्राकृतिक सम्पदा में गहरी रुचि ली थी। उदाहरण के लिए, बादशाह



जहाँगीर ने अपनी डायरी में सारस पक्षी के प्रजनन व्यवहार के साथ-साथ अन्य प्राणियों का सूक्ष्म वर्णन किया है। उन्होंने एक कुशल चित्रकार मन्सूर को पक्षियों के रंगीन चित्र बनाने का काम भी सौंपा। किन्तु उसके बाद लम्बे समय तक जैविक विविधता को दर्ज़ करने का काम पूर्णतः उपेक्षित रहा।

अँग्रेज़ों ने अपने औपनिवेशिक हितों के लिए भारत में जैविक सम्पदा की ठोस जानकारी को संकलित करना शुरू किया। सर जोसेफ हुकर, ह्यू व्हिस्लर और विण्टर-ब्लिथ जैसे दिग्गजों ने भारतीय जैविक सम्पदा को दर्ज करने में पथप्रदर्शक काम किया। सालिम अली शायद पहले ऐसे भारतीय थे जिनका काम सावधानी से किए गए सूक्ष्म अवलोकनों पर आधारित था। इसीलिए भारतीय विज्ञान के इतिहास में उनका काम अनूठा है।

1939 में एक छोटी शल्यक्रिया के बाद सालिम अली की पत्नी का देहान्त हो गया। उसके बाद 50 सालों तक उनकी बहन के परिवार ने उनकी सभी ज़रूरतों का ध्यान रखा। सालिम अली पक्षियों के अवलोकन में अपना पूरा जीवन इसलिए समर्पित कर सके क्योंकि उनके परिवार ने वह सब स्वीकार किया जिसे अन्य भारतीय परिवार पागलपन करार देते। जे.बी.एस. हाल्डेन ने सालिम अली के उपयोगी वैज्ञानिक अनुसन्धान की पुरज़ोर प्रशंसा की। सालिम अली इस अद्वितीय शोध को महज़ एक दूरबीन की सहायता से कर पाए।

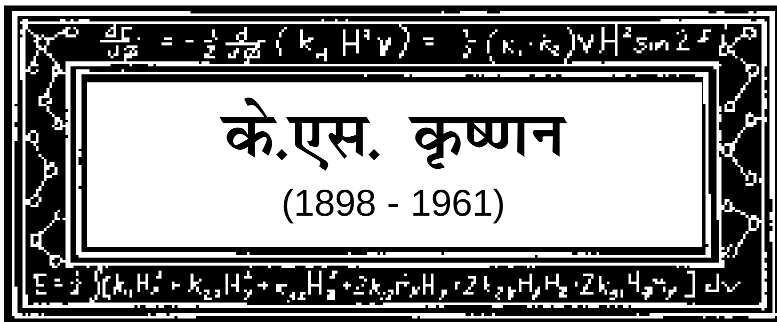
एक बार सालिम अली ने घोड़े की पूँछ के बालों की सहायता से आईने के सामने एक सलेटी खंजन को पकड़ा। चिड़िया आईने में अपने प्रतिबिम्ब पर वार करती रही और बालों के जाल में फँस गई। सालिम अली ने पक्षी के पैर में एक छल्ला डालकर उसे छोड़ दिया। साइबेरिया में प्रजनन करने वाली यह चिड़िया कुछ महीने बम्बई में बिताती है। इस घटना के कई सालों बाद तक वही चिड़िया हर अप्रैल सालिम अली के बाग में दिखती



और फिर सितम्बर में साइबेरिया की ओर पलायन करती। कोई ताज्जुब नहीं कि सालिम अली हमेशा के लिए पक्षियों से सम्मोहित हो गए!

सालिम अली अपने जीवनकाल में ही भारत ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया के पक्षी तथा प्रकृति-प्रेमियों के बीच एक किंवदन्ती बन गए थे। उन्हें बहुत सारे पुरस्कार मिले – ब्रिटिश ऑर्निथोलॉजिस्ट यूनियन का यूनियन मेडल (1967), वर्ल्ड कंज़रवेशन यूनियन का फिलिप्स मेडल (1969), पद्म विभूषण (1976) और वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फण्ड का पॉल गैटी वाइल्डलाइफ कंज़रवेशन प्राइज़ (1976)। उन्हें डॉक्टरेट की तीन मानद उपाधियों से सुशोभित किया गया और 1985 में राज्यसभा की सदस्यता के लिए मनोनीत किया गया। 1987 में सालिम अली का कैंसर से देहान्त हुआ। 1990 में कोयम्बतूर में सालिम अली पक्षी विज्ञान एवं प्राकृतिक इतिहास केन्द्र की स्थापना हुई।

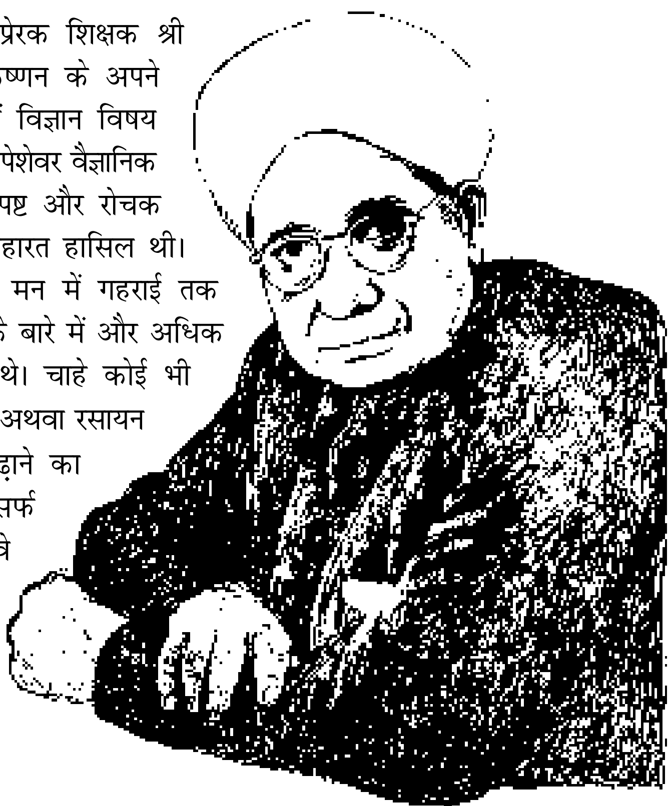




के.एस. कृष्णन

(1898 - 1961)

करियामणिक्कम श्रीनिवास कृष्णन का जन्म 4 दिसम्बर 1898 को तमिलनाडु में तिरुनलवेल्ली ज़िले के वाटरप गाँव में हुआ था। उनके पिता विद्वान थे और तमिल व संस्कृत भाषाओं में पारंगत थे। कृष्णन की प्रारम्भिक शिक्षा उनके गाँव एवं पास के शहर श्रीविलिपुत्तूर में हुई।



स्कूल में उनकी भेंट एक प्रेरक शिक्षक श्री सुब्रह्मण्या अय्यर से हुई। कृष्णन के अपने शब्दों में, "मुझे हाईस्कूल में विज्ञान विषय से प्रेम हुआ। मेरे शिक्षक कोई पेशेवर वैज्ञानिक नहीं थे परन्तु विज्ञान को स्पष्ट और रोचक तरीके से समझाने में उन्हें महारत हासिल थी। उनके पाठ न केवल हमारे मन में गहराई तक उतर जाते थे, वरन् विज्ञान के बारे में और अधिक जानने की भूख भी जगाते थे। चाहे कोई भी विषय हो – भौतिकी, भूगोल अथवा रसायन विज्ञान – श्री अय्यर के पढ़ाने का अन्दाज़ विलक्षण था। वे सिर्फ किताब से नहीं पढ़ाते थे। वे सरल प्रयोग दिखाते थे और हमें भी प्रयोग करने के लिए प्रेरित करते थे।"

शाला में एक बार कृष्णन से आर्कमिडीज़ के सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखने के लिए कहा गया। इस कार्य में कृष्णन ने घनत्व मापने का खुद बनाया एक उपकरण भी जोड़ दिया। बाद में उन्हें यह जानकर अचरज हुआ कि वह उपकरण पहले ही ईजाद हो चुका था और वह निकोलस हाईड्रोमीटर के नाम से जाना जाता था। कृष्णन का शायद यह पहला स्वतंत्र शोध था।

कृष्णन ने 1914–1916 के बीच मदुरै स्थित अमरीकन कॉलेज में पढ़ाई की। बाद में उन्होंने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में दाखिला लिया, जहाँ 1918 में एक योग्य छात्र के रूप में उन्होंने भौतिक विज्ञान का एबरडीन पुरस्कार (Aberdeen Prize for Physical Science) जीता।

अगले दो सालों तक कृष्णन ने मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज के रसायन विज्ञान विभाग में सहायक शिक्षक का काम किया। दोपहर भोजन की छुट्टी में वे अनौपचारिक चर्चा आयोजित करते जिनमें छात्र भौतिकी, रसायन विज्ञान और गणित के किसी भी प्रश्न पर चर्चा करने के लिए स्वतंत्र होते थे। यह गोष्ठियाँ इतनी अधिक लोकप्रिय हुईं कि आसपास के महाविद्यालयों के छात्र भी इनमें भाग लेने लगे।

1920 में कोडैकनाल स्थित सौर–भौतिकी वेधशाला (Solar Physics Observatory) में काम करने के लिए कृष्णन के नाम की सिफारिश की गई और वे जाने को तैयार भी थे। परन्तु किसी कारण बात बनी नहीं। एक तरह से यह अच्छा ही हुआ और इससे भौतिक विज्ञान को निश्चित ही बहुत अधिक लाभ हुआ।

कृष्णन का दिल वैज्ञानिक शोध में था। 1920 में उन्होंने यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ साइंस, कलकत्ता में एम.एससी. करने के लिए दाखिला लिया, जहाँ सी.वी. रामन पढ़ाते थे। भौतिक विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान हासिल करने के बाद कृष्णन ने रामन के साथ शोधकर्ता के रूप में काम करना शुरू किया। वे अक्सर सुबह छह बजे टहलने जाते और ठण्डे पानी से नहाने के तुरन्त बाद अपने शोधकार्य में जुट जाते। उन्होंने प्रकाश के आण्विक–विकिरण एवं तरल पदार्थों में एक्स–रे के प्रभाव पर कार्य किया। उन्होंने गैसीय अणुओं और स्फटिकों की चुम्बकीय विषमदेशिकता (anisotropy) पर भी

अनुसन्धान किया। मगर उनकी रुचि केवल शोध तक ही सीमित नहीं थी। साहित्य, धर्म और दर्शन की पुस्तकें भी वे शौक से पढ़ते थे।

अक्तूबर 1928 में जर्मनी के प्रोफेसर अर्नाल्ड सोमरफेल्ड ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में क्वांटम यांत्रिकी पर व्याख्यान दिए। कृष्णन ने उन व्याख्यानों का ध्यानपूर्वक अध्ययन कर उन्हें एक पुस्तक के रूप में संकलित किया। सोमरफेल्ड कृष्णन की मौलिकता एवं विद्वता से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने पुस्तक को संयुक्त नामों से छापने का प्रस्ताव रखा। पर जैसी अपेक्षा थी, कृष्णन ने विनम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया।

कृष्णन का रामन के साथ सहभाग बहुत महत्वपूर्ण साबित हुआ। रामन के आग्रह पर कृष्णन ने विभिन्न तरल पदार्थों पर प्रकाश के विकिरण के प्रभाव का प्रायोगिक अध्ययन किया और उसकी सैद्धान्तिक व्याख्या की। उन्होंने 'रामन प्रभाव' की खोज में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिसके लिए 1930 में रामन को नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। स्वयं रामन ने कृष्णन के योगदान का उल्लेख किया है। लेकिन कृष्णन ने बाद में इस विषय पर आगे शोध नहीं किया। उन्होंने चुम्बकत्व, ऊष्मा चालकता और तापायनिकी (thermionics) के क्षेत्र चुने। तापायनिकी इलेक्ट्रॉनिकी की वह शाखा है जिसमें पदार्थों को गर्म करने पर उनमें से निकलने वाले इलेक्ट्रॉनों का अध्ययन किया जाता है।

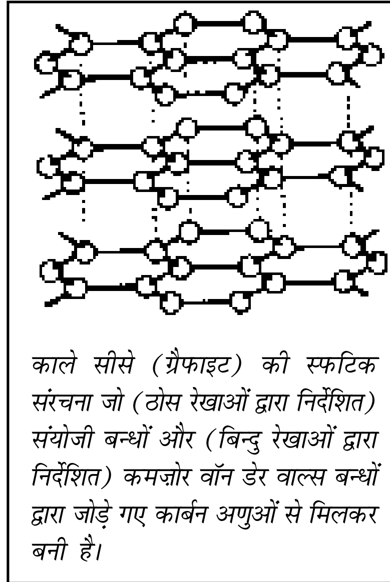


कृष्णन, सोमरफेल्ड और रामन

दिसम्बर 1928 में कृष्णन ने ढाका विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान विभाग में रीडर के पद पर काम प्रारम्भ किया। उस समय प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानी सत्येन्द्र नाथ बोस उस विभाग के प्रमुख थे। वहाँ का प्रेरणादायक माहौल कृष्णन को बेहद पसन्द आया और उन्होंने पूरे जोश के साथ काम शुरू किया। वे सस्ते और सरल किस्म के तरीकों से प्रयोग करते थे। उनके काम

को एक विदेशी मित्र ने मज़ाक में 'कबाड़ से जुगाड़' करना बताया। उन्होंने विषम-चुम्बकीय तथा सम-चुम्बकीय स्फटिकों के चुम्बकीय गुणधर्मों का गहन अध्ययन किया। उनके शोधकार्य के लिए मद्रास विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.एससी. की उपाधि प्रदान की।

1933 में कृष्णन कलकत्ता लौटे जो उस समय देश में विज्ञान का प्रमुख केन्द्र था। वहाँ उन्होंने भारतीय विज्ञान विकास संघ (Indian Association for the Cultivation of Science) में फिज़िक्स की महेन्द्रलाल सरकार चेयर का पद सम्भाला। प्रकाश के विकिरण और चुम्बकत्व के माप पर कृष्णन के काम को इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि 1940 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। उस समय उनकी उम्र मात्र 42 वर्ष थी।



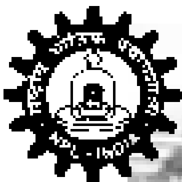
काले सीसे (ग्रैफाइट) की स्फटिक संरचना जो (ठोस रेखाओं द्वारा निर्देशित) संयोजी बन्धों और (बिन्दु रेखाओं द्वारा निर्देशित) कमज़ोर वॉन डेर वाल्स बन्धों द्वारा जोड़े गए कार्बन अणुओं से मिलकर बनी है।

दिसम्बर 1941 में जापान में युद्ध छिड़ने के कारण कलकत्ता में जीवन बहुत अस्त-व्यस्त हो गया। इस बात की सम्भावना थी कि शिक्षा और शोध संस्थाओं को बन्द कर दिया जाए। इसलिए जब कृष्णन को इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राध्यापक के पद का न्यौता मिला तो उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार किया। इलाहाबाद में बहुत समय प्रशासनिक कार्यों में खर्च होने से उनके प्रायोगिक शोधकार्य पर असर पड़ा। परन्तु भौतिकी के सैद्धान्तिक पक्षों में पारंगत होने के कारण उन्होंने अपना ध्यान धातुओं और मिश्रधातुओं के प्रतिरोध (resistivity) का एक सूत्र विकसित करने पर केन्द्रित किया। 1946 में कृष्णन को नाईटहुड (Knighthood) से सम्मानित किया गया। देश की आज़ादी से कुछ समय पहले कृष्णन को राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (National Physical Laboratory) के निदेशक का पद सम्भालने के लिए नई दिल्ली आमंत्रित किया गया।

1940 के दशक के उत्तरकाल और 1950 के दशक के शुरुआती वर्षों में कृष्णन ने काफी समय वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, परमाणु ऊर्जा आयोग और अन्य महत्वपूर्ण सरकारी संस्थाओं के साथ बिताया। 1954 में उन्हें पद्म भूषण और 1957 में शान्ति स्वरूप भटनागर पुरस्कार से अलंकृत किया गया।

व्यक्तिगत जीवन में कृष्णन कई विषयों में पारंगत थे। साथ ही न्याय और नैतिकता के मानवीय मूल्यों में उनका गहरा विश्वास था। उन्हें संस्कृत, तमिल साहित्य और कर्नाटक संगीत में रुचि थी। एक बार पण्डित नेहरू ने टिप्पणी करते हुए कहा था कि हरेक मुलाकात पर कृष्णन से उन्हें कोई नई कहानी सुनने को मिलती है! कृष्णन टेनिस खेलते थे और उन्हें क्रिकेट मैच देखने का भी शौक था। विज्ञान की गहरी जानकारी होने के कारण वे विज्ञान की विनाशकारी शक्ति से अच्छी तरह अवगत थे और इसलिए उन्होंने शान्ति आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया।

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के निर्माण के समय एक ठेकेदार ने मुख्य द्वार के पास दो समस्यामूलक पेड़ों को काटने का निर्णय लिया। कृष्णन ने जब यह देखा तो वे बहुत दुखी हुए और उन्होंने वास्तुकार से पूछा, "आप ये पेड़ क्यों काट रहे हैं?" जवाब में वास्तुकार ने कहा, "सर, इन पेड़ों के कारण लैण्डस्केप का सौष्ठव बिगड़ रहा है।" कृष्णन ने कहा, "तुम अभी भी सौष्ठव बरकरार रख सकते हो। इन पेड़ों को काटकर नहीं, बल्कि वहाँ एक और पेड़ लगाकर।" यह छोटी-सी घटना कृष्णन की गहरी नैतिक संवेदनाओं और सौन्दर्य बोध की द्योतक है। 13 जून 1961 को कृष्णन का देहान्त हुआ। वे अपने पीछे पत्नी, दो बेटों, चार बेटियों और समस्त भारत को शोकाकुल छोड़ गए।








वी.एन. शिरोडकर पूरे विश्व में शिरोडकर टाँके (Shirodkar Stitch) के आविष्कारक के रूप में मशहूर हैं। एक शल्यचिकित्सक की हैसियत से स्त्रीरोगों के उपचार में उनका योगदान बहुत महत्वपूर्ण है।

विठ्ठल नागेश शिरोडकर का जन्म 1899 में गोवा के शिरोदा नाम के गाँव में हुआ। उनका पारिवारिक नाम शिरोडकर उस गाँव के नाम पर ही पड़ा। प्रारम्भिक शिक्षा हुबली में होने के बाद ग्रांट मेडिकल कॉलेज, बम्बई से उन्होंने चिकित्सा की पढ़ाई पूरी की। 1923 में उन्होंने एम.बी.बी.एस. की अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होंने प्रसूति एवं स्त्रीरोग विज्ञान में विशेषज्ञता हेतु 1927 में बम्बई महाविद्यालय से एम.डी. की डिग्री हासिल की। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए वे इंग्लैण्ड गए। पश्चिमी देश जाने से उन्हें बहुत लाभ हुआ। वहाँ उन्होंने शल्यक्रिया की नवीनतम प्रणालियाँ सीखीं और अनेक प्रसिद्ध चिकित्सकों से मिले। 1931 में वे रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन्ज़ (इंग्लैण्ड) के फैलो चुने गए। इसके बाद वे भारत लौटे और बम्बई



के जे.जे. समूह के अस्पताल में प्रसूति एवं स्त्रीरोग विज्ञान के प्राध्यापक की हैसियत से काम करने लगे।

जे.जे. अस्पताल अद्वितीय है और सम्भवतः विश्व के विशालतम अस्पतालों में से एक है, जिसमें मरीज़ों के लिए 4,000 पलंग हैं। वहाँ 1,500 स्नातक और 650 स्नातकोत्तर छात्र हैं। 1845 में स्थापित, एशिया में पश्चिमी चिकित्सा पद्धति की इस सबसे पुरानी संस्था का इतिहास गौरवशाली रहा है। नोबल पुरस्कार से सम्मानित प्रसिद्ध वैज्ञानिक रॉबर्ट कॉक ने 19वीं शताब्दी के अन्त में तपेदिक पर अपना बुनियादी शोध इसी संस्था में किया था।

1940 में ग्रांट मेडिकल कॉलेज के प्रसूति एवं स्त्रीरोग विभाग में शिरोडकर ने मानद प्राध्यापक के पद पर कार्य आरम्भ किया। 1941 में वे नौरोसजी वाडिया मैटरनटी अस्पताल के साथ भी जुड़ गए। इसके साथ–साथ उनकी निजी प्रैक्टिस भी जारी रही, जिसमें वे समाज के सभी तबकों के मरीज़ों का इलाज करते थे। बम्बई में कम्बाला हिल स्थित अपने दवाखाने में वे रोज़ाना 14 से 16 घण्टे काम करते थे। उनके द्वारा किए जाने वाले हर ऑपरेशन के समय कई उत्सुक और प्रेरित दर्शक मौजूद होते थे। जल्द ही उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई और देश–विदेश में जगह–जगह व्याख्यान देने के लिए बुलाया जाने लगा। वे उन पहले लोगों में से थे जिन्होंने अपने द्वारा किए गए ऑपरेशनों की फिल्में बनाईं। उन्होंने स्त्री जननांगों की विकृति को ठीक करने के लिए दो प्रकार की शल्यक्रिया का आविष्कार किया। एक अनुमान के अनुसार दुनिया के किसी भी अन्य शल्यचिकित्सक की तुलना में शिरोडकर ने ट्यूबोप्लास्टी (Tuboplasty) के अधिक ऑपरेशन किए हैं!

1950 के दशक में गर्भावस्था की दूसरी तिमाही में स्वतः हो जाने वाला गर्भपात एक गूढ़ रहस्य था। उसके लिए तमाम इलाज सुझाए गए, परन्तु उनमें से कोई भी कारगर साबित नहीं हुआ। कभी–कभार होने वाली इस दर्दनाक समस्या के उपचार के लिए नई दृष्टि आवश्यक थी। इस समस्या का गहन अध्ययन करने के लिए वी.एन. शिरोडकर बिलकुल सही व्यक्ति थे। उन्होंने गर्भ ठहरने से पूर्व और उसके बाद की स्थिति में स्त्रियों की



सामान्य गर्भाशय में ग्रीवा बन्द होती है।



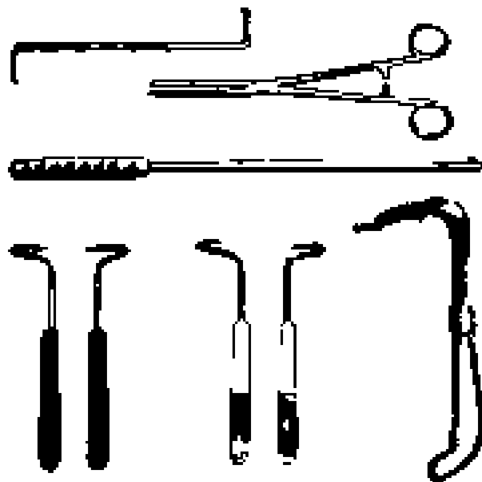
अक्षम (इनकम्पीटेंट) गर्भाशय में ग्रीवा खुली होती है।



शिरोडकर स्टिच द्वारा अक्षम (इनकम्पीटेंट) गर्भाशय में पूरे गर्भकाल के दौरान ग्रीवा को बन्द रखा जाता है।

गर्भाशय-ग्रीवा का अध्ययन किया और उसमें होने वाले बदलावों को समझा। गर्भाशय-ग्रीवा की प्रकृति पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया, जो सामान्य गर्भावस्था के दौरान एक तन्तुमय अंग से परिवर्तित होकर एक सक्रिय पेशीय अवयव बन जाती है। बार-बार स्वतः हो जाने वाले गर्भपात की समस्या के हल के लिए शिरोडकर ने एक शल्यक्रिया सुझाई, जिसने उन्हें और भारत को दुनिया में शल्य-प्रसूति एंव स्त्रीरोग के क्षेत्र में एक गौरवशाली स्थान पर पहुँचा दिया।

1955 में डॉक्टर शिरोडकर ने 'सर्वाइकल सर्कलेज' (cervical cerclage) नामक शल्यक्रिया का वर्णन किया, जिसने सदा-सदा के लिए अपनी उपयोगिता प्रमाणित की है। शिरोडकर ने अक्षम गर्भाशय के उपचार के



शल्यक्रिया के कुछ औज़ार जिनका आविष्कार डॉक्टर शिरोडकर ने किया।

लिए कई उपकरणों का आविष्कार भी किया। समय के साथ इस शल्यक्रिया में अनेक सुधार हुए हैं परन्तु उनका सुझाया ऑपरेशन आज भी अत्युत्तम है। उन्होंने 1951 में पेरिस में एक अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में और फिर 1956 में नेपल्स (इटली) में इस ऑपरेशन का ज़िक्र किया। इटली का सन्दर्भ इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी तकनीक से हॉलीवुड की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री का सफल ऑपरेशन हुआ था। शिरोडकर खुद इतने बुद्धिमान थे कि यह जान सकें कि शल्यक्रिया का उनका यह तरीका हर प्रकार के गर्भपातों का रामबाण इलाज नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि किन परिस्थितियों में इस शल्यक्रिया के उपयोगी होने की सम्भावना है और किनमें नहीं।

इस नए ऑपरेशन का विचार शायद शिरोडकर को इसलिए सूझा क्योंकि वे सामान्य प्रतीत होने वाली हर चीज़ पर प्रश्न उठाते थे। शिरोडकर ने इसके बारे में स्वयं लिखा है: "पुराने दिग्गजों के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए भी, ऑपरेशन के उनके कई तरीकों को मैं एकदम सही और आदर्श नहीं मान सकता; पहले से प्रतिष्ठित इन तरीकों को बेहतर बनाने का विचार मेरे मन में कौंधा।"

1951 में फ्रेंच सोसाइटी ऑफ गायनेकॉलोजी (French Society of Gynaecology) के रजत जयन्ती समारोह के उपलक्ष्य में शिरोडकर ने अपने ऑपरेशन की एक फिल्म दिखाई। इसमें उन्होंने भेड़ की आँत से बने तीन तन्तुओं की पट्टी से गर्भाशय-ग्रीवा को बाँध रखा था। जल्द ही

शिरोडकर को ज्ञात हुआ कि घुलनशील होने के कारण भेड़ की आँत के तन्तु इस काम के लिए अनुपयुक्त हैं। उन्होंने अपनी तकनीक में बदलाव कर जाँघ से प्रवरणी पट्टी (fascia lata) और सन के कपड़े के टाँके का उपयोग कर दूसरी तिमाही में होने वाले गर्भपात का इलाज किया। यह ऑपरेशन आज दुनिया भर में 'शिरोडकर ऑपरेशन' के नाम से जाना जाता है। आने वाली तमाम पीढ़ियाँ शिरोडकर को इस नवाचार के लिए याद करेंगी।

शिरोडकर ने चिकित्सा पत्रिकाओं में बहुत से शोधपत्र भी लिखे। 1960 में अपने निजी अनुभवों के आधार पर उन्होंने "कांट्रिब्यूशन्स टू ऑब्सटेट्रिक्स एंड गायनेकॉलजी" (प्रसूति एवं स्त्रीरोग विज्ञान में योगदान) नामक एक शोधपत्र लिखा। 1963 और 1970 में माइग्स और स्टर्गिस द्वारा सम्पादित पुस्तक श्रृंखला *प्रोग्रेस इन गायनेकॉलजी (Progress in Gynaecology)* के खण्ड 4 और 5 के लिए उन्होंने "इनकम्पीटेण्ट सर्विक्स" (अक्षम गर्भाशय-ग्रीवा) पर एक-एक अध्याय लिखा। जननेन्द्रिय स्थानान्तरण (genital prolapse) पर उन्होंने अपने विचार 1967 में मारकस एवं मारकस द्वारा सम्पादित पुस्तक *एडवांसेज़ इन ऑब्सटेट्रिक्स एंड गायनेकॉलजी (Advances in Obstetrics and Gynaecology)* में लिखे। उन्होंने गर्भ-निरोध या बन्ध्यकरण के लिए गर्भाशय-ग्रीवा पर एक ढक्कन लगाने का सुझाव भी दिया।

7 मार्च 1971 को बम्बई में शिरोडकर का देहान्त हुआ। उनकी माँ का देहान्त गर्भाशय के कैंसर से हुआ था। इसी वजह से वी.एन. शिरोडकर के बेटे मनोहर शिरोडकर ने इस बीमारी के कारक विषाणुओं पर शोध करने की ठानी। शुरू में उन्होंने जॉन हॉपकिन्स स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ में राउस सरकोमा (Rous sarcoma) नामक विषाणु पर शोधकार्य किया; ठोस कैंसर फैलाने वाला यह पहला वायरस खोजा गया। बाद में मनोहर ने रॉकफेलर फाउंडेशन के पुणे स्थित वायरस रिसर्च सेंटर (Virus Research Centre) में कार्य किया।

छात्रावस्था में मनोहर ने डॉक्टरी के पेशे से अपना मुँह मोड़ लिया था, परन्तु वे दिल से अपने पिता के काम का बहुत आदर करते थे। 1976 में

मनोहर और उनकी पत्नी ने डॉक्टर वी.एन. शिरोडकर मेमोरियल रिसर्च फाउंडेशन (Dr. V.N. Shirodkar Memorial Research Foundation) की स्थापना की जिसमें उन्होंने अपने और अपने पिता के सपनों को साकार किया। यह संस्था गरीब महिलाओं में गर्भाशय के कैंसर की जाँच करती है और उनके इलाज के लिए जैविक विषाणुरोधी खोजती है।

अत्यन्त व्यस्त शल्यचिकित्सक होने के बावजूद वी.एन. शिरोडकर ने बहुत से शोधपत्र लिखे और उपचार के सामाजिक पक्षों में गहरी रुचि ली। वे गर्भपात के विषय पर भारत सरकार द्वारा गठित शान्तिलाल शाह समिति के सदस्य थे और उन्होंने भारत में परिवार नियोजन संघ (Family Planning Association) की स्थापना की। 1971 में भारत सरकार ने वी.एन. शिरोडकर को पद्म विभूषण से सम्मानित किया।



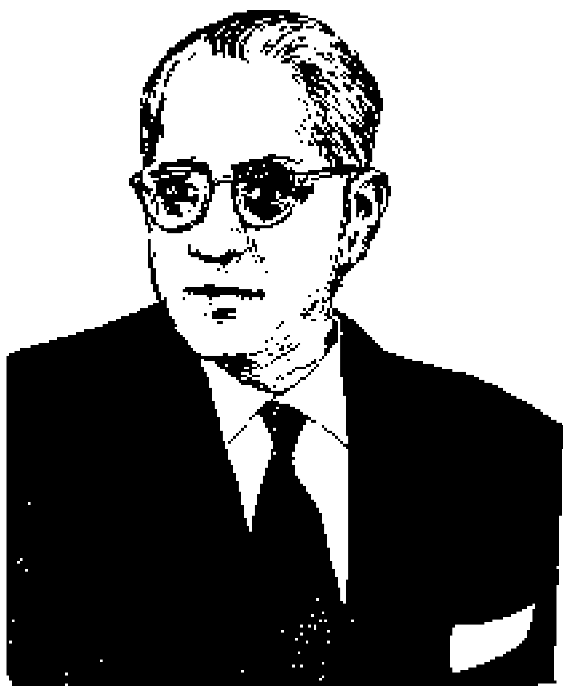
टी.आर. शेषाद्री

(1900 - 1975)

केवल धन और साधन से ही अच्छा शोधकार्य नहीं होता, ये सिर्फ सहायक हैं और इनके पीछे का मानवीय तत्व ही महत्वपूर्ण है।

– टी.आर. शेषाद्री

टी.आर. शेषाद्री का जन्म 3 फरवरी 1900 को कुलीतलाई में हुआ जो तिरुचिरापल्ली ज़िले में कावेरी नदी के किनारे पर स्थित एक छोटा शहर है। उनके पिता टी. अयंगर एक स्थानीय विद्यालय में शिक्षक थे। शेषाद्री की प्रारम्भिक शिक्षा मन्दिरों के शहर श्रीरंगम और तिरुचिरापल्ली में हुई। उनके शिक्षकों ने उनके हृदय में कर्तव्यपालन, समाज के प्रति कृतज्ञता और मनुष्य मात्र के प्रति प्रेम के बीज बोने के साथ–साथ ज्ञान के प्रति पिपासा भी जागृत की। 1917 में शेषाद्री ने मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज में बी.एससी. (रसायन विज्ञान) के लिए दाखिला



लिया। कॉलेज की पढ़ाई के दौरान वे रामकृष्ण मिशन द्वारा संचालित छात्रावास में रहते थे। आश्रम के संन्यासियों से सीखे आध्यात्मिक मूल्य उन्होंने जीवन भर के लिए आत्मसात् कर लिए। कॉलेज में उन्हें बी.बी. डे और पी. नारायण अय्यर ने पढ़ाया; इन शिक्षकों का उन्होंने जीवन भर सम्मान किया और उन्हें याद रखा। बी.एससी. की पढ़ाई समाप्त करने के बाद शेषाद्री ने एक साल रामकृष्ण मिशन में काम किया। बाद में उन्होंने प्रेसिडेंसी कॉलेज के रसायन विज्ञान विभाग में शोधकार्य शुरू किया। रासायनिक संश्लेषण (chemical synthesis) में उनके उत्कृष्ट कार्य के लिए उन्हें मद्रास विश्वविद्यालय ने सर विलियम वेडरबर्न पुरस्कार और कर्ज़न पुरस्कार से सम्मानित किया।



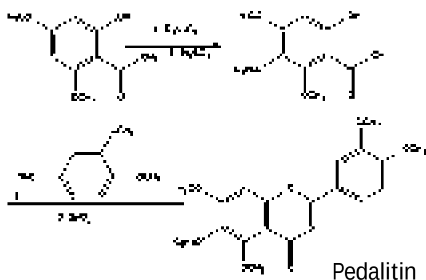
1927 में भारत सरकार ने इंग्लैण्ड में उच्च शिक्षा पाने के लिए शेषाद्री को एक वज़ीफा दिया। इंग्लैण्ड के मैंचेस्टर विश्वविद्यालय में शेषाद्री ने विख्यात कार्बनिक रसायन विज्ञानी प्रोफेसर रॉबर्ट रॉबिन्सन के मार्गदर्शन में शोधकार्य किया। प्रोफेसर रॉबिन्सन बाद में रॉयल सोसाइटी के अध्यक्ष बने और उन्हें नोबल पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। शेषाद्री ने मलेरिया की रोकथाम की औषधियों और यौगिकों के संश्लेषण पर पथप्रदर्शक कार्य किया। इस शोधकार्य के लिए 1929 में उन्हें मैंचेस्टर विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की गई। प्रोफेसर रॉबिन्सन के साथ बिताए समय को शेषाद्री ने अपने शोध जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना माना।

डॉक्टरेट की उपाधि पाने के बाद शेषाद्री ने कुछ महीने ऑस्ट्रिया में नोबल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर फ्रिट्ज प्रेगल के साथ कार्य किया। प्रोफेसर प्रेगल रसायन विज्ञान में कार्बनिक सूक्ष्म–विश्लेषण (organic micro-analysis) के अपने काम के लिए विख्यात थे। शेषाद्री ने एडिनबरा विश्वविद्यालय के चिकित्सा–रसायन विज्ञान विभाग में प्रोफेसर जॉर्ज बार्जर के साथ भी काम किया। 1930 में शेषाद्री भारत वापस लौटे।

1934 में उन्होंने आन्ध्र विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान विभाग में

विभागाध्यक्ष व रीडर के पद पर काम आरम्भ किया। यहाँ उन्होंने बहुत मेहनत से नई प्रयोगशालाएँ खोलीं, नया पाठ्यक्रम बनाया और रसायन विज्ञान के एक अत्यन्त जीवन्त शोध केन्द्र की स्थापना की। इस बीच विश्वविद्यालय ने उन पर रासायनिक प्रौद्योगिकी एवं औषधीय रसायन विज्ञान के नए विभागों की स्थापना का दायित्व भी सौंपा। इसके बावजूद उन्होंने अपना शोधकार्य लगातार जारी रखा। इस दौरान उन्हें अक्सर आन्ध्र मेडिकल कॉलेज स्थित जैव-रसायन विज्ञान (biochemistry) विभाग की ओर अपनी साइकिल पर जाते हुए देखा जा सकता था, जो 5 कि.मी. दूर विशाखापट्टनम में स्थित था। काम के प्रति शेषाद्री के समर्पण से प्रेरित होकर उनके बहुत से युवा छात्रों ने भी शोधकार्य प्रारम्भ किया और अनुसन्धान को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया। जल्द ही आन्ध्र विश्वविद्यालय देश में रसायन विज्ञान पर मौलिक शोध का एक अग्रणी केन्द्र बन गया।

दूसरे विश्वयुद्ध ने शेषाद्री के काम में बाधा डाली। युद्ध के कारण यूरोप से आने वाले रसायनों और उपकरणों का मिलना दुश्वार हो गया। उसी समय फौज की एक टुकड़ी ने वॉल्टेयर स्थित रसायन विज्ञान विभाग की इमारत में डेरा डाला। इस कारण पहले तो शेषाद्री को गुण्टूर और उसके बाद मद्रास जाना पड़ा। पर इस दौड़-धूप में भी उन्होंने अपना शोधकार्य जारी रखा। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वॉल्टेयर की प्रयोगशाला का पुनर्निर्माण हुआ और शेषाद्री वापस वहाँ लौटे।



शेषाद्री ने तिल में पाए जाने वाली फ्लेवनॉइड (Flavenoid) को संश्लेषित करने का तरीका विकसित किया।

1949 में शेषाद्री को दिल्ली विश्वविद्यालय के उप-कुलपति सर मौरिस ग्वायर ने रसायन विज्ञान विभाग का कार्यभार सम्हालने का निमंत्रण दिया। शेषाद्री ने इस चुनौती को स्वीकारा और अल्पकाल में प्राकृतिक उत्पादों के रसायन विज्ञान का एक विश्वस्तरीय केन्द्र स्थापित किया। देश के कोने-कोने से और बाद में

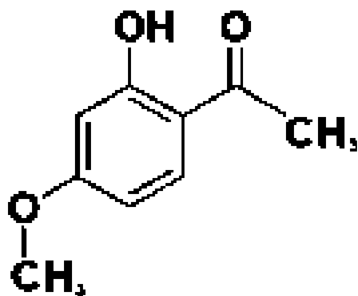
दुनिया भर से छात्र उनके मार्गदर्शन में शोधकार्य करने के लिए आने लगे। उनकी विशाल टीम में इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी के पीएच.डी. उपरान्त शोधकार्य करने वाले अध्येता भी शामिल थे। शेषाद्री ने 160 से अधिक पीएच.डी. छात्रों का मार्गदर्शन किया और कुल मिलाकर एक हज़ार से अधिक शोधपत्र लिखे। उनके छात्र आज दुनिया भर में फैले हैं और देश-विदेश की शैक्षणिक एवं शोध संस्थाओं में वरिष्ठ पदों पर आसीन हैं। शेषाद्री ने एक पुस्तक *केमिस्ट्री ऑफ विटामिन्स एंड हॉरमोंस (Chemistry of Vitamins and Hormones /* विटामिनों और हॉरमोनों का रसायन विज्ञान) भी लिखी। सेवानिवृत्ति के तुरन्त बाद उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम अवकाश-प्राप्त प्राध्यापक (Professor Emeritus) के पद पर नियुक्त किया गया।



वनस्पतियों और प्राणियों के रंगों के प्रकार और विविधता में शेषाद्री की विशेष रुचि थी। शुरू में उन्होंने कपास और गुड़हल की विभिन्न प्रजातियों के फूलों के रंगद्रव्यों (pigments) पर शोधकार्य किया। उन्होंने कई नए यौगिकों की संरचनाओं की व्याख्या की और साथ-साथ विश्लेषण के कई नए तरीके ईजाद किए जो आज रसायन विज्ञान के अध्ययन में आम हैं। उनकी जैव-संश्लेषण (Biosynthesis) में गहरी रुचि थी और इस क्षेत्र में उन्होंने पथप्रदर्शक कार्य किया। हिमालय क्षेत्र में पाए जाने वाले शैवालों (lichens) पर रासायनिक शोध शुरू करने वाले शेषाद्री पहले भारतीय थे।

शेषाद्री की विशेषज्ञतापूर्ण सलाह एवं परिपक्व ज्ञान का अनेक संगठनों को लाभ मिला – इनमें वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद, भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद और परमाणु ऊर्जा विभाग शामिल हैं। शेषाद्री ने शिक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान, कृषि और रक्षा से सम्बन्धित विशेषज्ञ समितियों की अध्यक्षता की। वे मंत्रिपरिषद और संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO) के वैज्ञानिक सलाहकार भी रहे। उन्हें बहुत से सम्मानों व पुरस्कारों से सुशोभित किया गया। 1961 में शेषाद्री रॉयल सोसाइटी के फैलो चुने गए।

कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधि से भी नवाज़ा। वे भारतीय विज्ञान कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष भी रहे। वे अन्तर्राष्ट्रीय शोध पत्रिकाओं – *टेट्राहेड्रन (Tetrahedron)* और *फाइटोकेमिस्ट्री (Phytochemistry)* के सम्पादक मण्डल के सदस्य भी रहे। 1963 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया।



शेषाद्री ने फीनॉल के प्रोदलीयन (o-methylation) की तकनीक ईजाद की जो अब बहुत उपयोग की जाती है।

प्रोफेसर शेषाद्री के इस उच्च स्तर तक पहुँचने के पीछे उनकी गहरी कर्तव्यनिष्ठा थी। हालाँकि अपने छात्रों का प्रेम उन्हें सबसे प्रिय था। उन्होंने अपने छात्रों की जी–जान से मदद की, जिसमें ज़रूरत पड़ने पर आर्थिक

ODAP

L-glutamate

शेषाद्री ने खेसारी दाल की विषाक्तता का अध्ययन किया। खेसारी में विभिन्न मात्राओं में तंत्रिका कोशिकाओं को प्रभावित करने वाला विष ओ.डी.ए.पी. (ODAP) होता है। यदि अधिक मात्रा में लिया जाए तो इससे मनुष्यों और मवेशियों में पक्षाघात को सकता है। ओ.डी.ए.पी. में विषाक्तता का विचार एल–ग्लुटामेट (L-glutamate) नामक तंत्रिका–पारेषक (neurotransmitter) के साथ उसकी संरचनात्मक समानता को देखकर आया।

सहायता करना भी शामिल था। अपने छात्रों के बीच रहने के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्षता को नकार दिया। छात्रों ने अपने प्रेरक शिक्षक के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए उनके 60वें, 65वें, 70वें और 75वें जन्मदिन पर स्मरोणत्सव ग्रन्थ प्रकाशित किए। उन्होंने शेषाद्री की याद में कई निधियाँ भी स्थापित कीं।

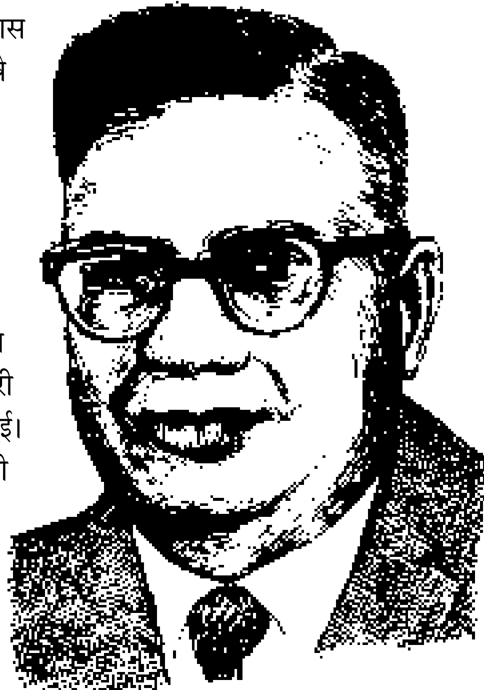
सेवानिवृत्ति के बाद भी शेषाद्री अपने छात्रों के मार्गदर्शन और सहायता के लिए सदैव मौजूद रहते थे। दिल्ली विश्वविद्यालय में एक ही समय में शेषाद्री के लगभग 25 छात्र तीन अलग-अलग इमारतों में स्थित आधा दर्जन प्रयोगशालाओं में शोधकार्य करते। वे नियमित रूप से दिन में कम से कम चार बार अपने सभी छात्रों से मिलने अवश्य जाते और उनकी समस्याओं पर चर्चा करते। उन्हें आशा थी कि सेवानिवृत्ति के बाद भी रसायन विज्ञान, जिसकी उन्होंने सालों तक सेवा की थी, उनके जीवनयापन के लिए कुछ साधन उपलब्ध कराएगा। 1965 में उन्होंने अपना सम्पूर्ण निजी पुस्तकालय दिल्ली विश्वविद्यालय के रसायन विज्ञान विभाग को दान कर दिया। वे अपनी आखिरी साँस तक इसी विभाग में काम करते रहना चाहते थे। दुर्भाग्य से 1972 में दिल्ली विश्वविद्यालय ने कुछ नए नियम लागू किए जिसकी वजह से वे विभाग से कोई भी पारिश्रमिक नहीं ले सकते थे। इससे उनकी आर्थिक व्यवस्था एकदम चरमरा गई। उनके पास शोध करने के लिए कोई अनुदान या जीवनयापन का कोई साधन नहीं बचा। भारत के इस महान सपूत का देहान्त 27 सितम्बर 1975 को इस हालत में हुआ।



पंचानन माहेश्वरी

(1904 - 1966)

पंचानन माहेश्वरी एक प्रख्यात वैज्ञानिक थे जिन्होंने भारत को विश्व के वनस्पतिशास्त्रीय नक्शे पर एक प्रमुख स्थान दिलाया। उनका जन्म 9 नवम्बर 1904 को जयपुर में हुआ। संस्कृत में 'पंचानन' का अर्थ होता है 'पंचमुखी' यानि पाँच लोगों जितना बुद्धिमान। इस विशेष नाम की महिमा जल्द ही उजागर हुई। पंचानन के पिता एक क्लर्क थे परन्तु उन्होंने अपने बेटे की अच्छी पढ़ाई के लिए कोई भी कसर बाकी नहीं छोड़ी। पंचानन ने अपनी प्रारम्भिक पढ़ाई जयपुर में की। 13 वर्ष की अल्पायु में उन्होंने हाईस्कूल पास किया। आँखों की कमज़ोरी के कारण वे डॉक्टरी की पढ़ाई नहीं कर पाए। परन्तु उन्होंने विज्ञान की पढ़ाई की और उसमें बड़ी कामयाबी हासिल की।

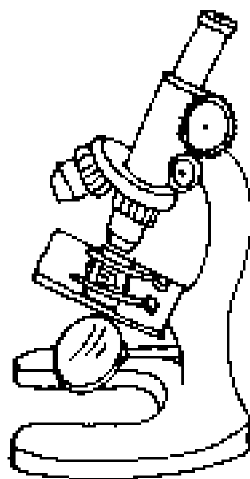


1923 में पंचानन ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध इविंग क्रिश्चियन कॉलेज से बी.एससी. की। यहाँ पंचानन की भेंट अमरीका के एक विलक्षण मिशनरी शिक्षक विनफील्ड स्कॉट डुडजियोन से हुई। वे एक प्रख्यात अमरीकी वनस्पतिशास्त्री और इण्डियन बॉटेनिकल सोसाइटी

(Indian Botanical Society) के संस्थापक अध्यक्ष थे। छात्र उनका बहुत आदर करते थे परन्तु उनसे डरते भी थे क्योंकि वे छात्रों से जमकर काम करवाने के लिए जाने जाते थे। परन्तु माहेश्वरी के रूप में डुडजियोन को एक ऐसा उत्कृष्ट छात्र मिला जिसकी वे मुद्दत से तलाश कर रहे थे। डुडजियोन फील्ड–यात्राओं पर वनस्पतियों के नमूने एकत्रित करने के लिए युवा माहेश्वरी को साथ ले जाते थे। उन्होंने ही माहेश्वरी को वनस्पति आकृति विज्ञान (plant morphology) के बुनियादी गुर सिखाए। एक बार डुडजियोन ने कहा, “एक हिन्दू पिता अपने बेटे को अच्छी शिक्षा देने के पश्चात् ही अपने जीवन को सफल मानता है। मेरा खुद का बेटा जल्द ही चल बसा, परन्तु मैं एक ऐसा छात्र देकर जाना चाहता हूँ जो मेरे काम को आगे बढ़ाएगा।”

माहेश्वरी पढ़ाई में बहुत होशियार थे। उन्होंने एम.एससी. (1927) और डी. एससी. (1931) की पढ़ाई डुडजियोन के मार्गदर्शन में पूरी की। उन्होंने फूल उत्पन्न करने वाले पौधों (angiosperms) के आकृति विज्ञान, संरचना और प्रजनन का अध्ययन किया। पढ़ाई समाप्त करने के बाद माहेश्वरी अपने शिक्षक डुडजियोन को गुरुदक्षिणा देने गए। गुरु ने कहा, “अपने छात्रों के लिए वही करो जो मैंने तुम्हारे लिए किया है।” यह सन्देश माहेश्वरी कभी नहीं भूले। उसके बाद वे जहाँ भी गए, आगरा, ढाका या फिर दिल्ली, उन्होंने अपने गुरु को दिया वचन निभाया।

1931 में आगरा महाविद्यालय में नौकरी लगने के तुरन्त बाद उन्होंने पौधों के प्रजनन पर शोध कार्य आरम्भ कर दिया। साधनों के अभाव के बावजूद उन्होंने पैसे एकत्रित कर एक सूक्ष्मदर्शी और एक सूक्ष्मकर्तक (microtome) खरीदा। (सूक्ष्मकर्तक पौधों की पतली परत काटने के काम आता है।) घर में उनकी पत्नी शान्ति – जो कभी स्कूल नहीं गई थीं – उच्च कोटि के स्लाइड बनाने में उनकी मदद करती थीं!



हमें मालूम है कि जब किसी कीड़े या हवा के



सरसों परिवार के पौधे के भ्रूण का विकासक्रम

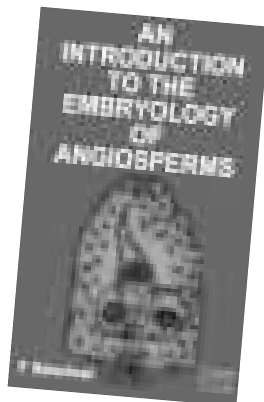
झोंके द्वारा पौधे के डिम्ब में पराग के कण पहुँचते हैं तभी निषेचन (fertilization) होता है। यह क्रिया फूल के अण्डाशय में घटित होती है और इससे भ्रूण पैदा होता है। भ्रूण, अर्थात् अजन्मा नन्हा पौधा, अपने आसपास की मिट्‌टी से भोजन प्राप्त करता है और धीरे-धीरे एक पौधे के रूप में पनपता है। भ्रूण से पौधा बनने की प्रक्रिया हरेक प्रजाति के लिए अलग-अलग होती है। माहेश्वरी ने फूलों वाले पौधों की कई प्रजातियों में विकास की इस प्रक्रिया का अध्ययन किया। उन्होंने भ्रूण विज्ञान के अपने अध्ययन में मिली विभिन्नताओं के आधार पर उन्हें वर्गीकृत किया।

1936-37 में माहेश्वरी यूरोप और इंग्लैण्ड के दौरे पर गए जहाँ वे कई मूल्यवान सम्पर्क-सूत्र स्थापित करने में सफल रहे। विदेश से लौटने के पश्चात् उन्होंने कुछ समय विख्यात जीवाश्म-वनस्पति वैज्ञानिक प्रोफेसर बीरबल साहनी के साथ काम किया। 1939 में उन्होंने ढाका विश्वविद्यालय में जीव विज्ञान का नया विभाग प्रारम्भ किया। वहाँ उनकी भेंट सत्येन्द्र नाथ बोस और मेघनाद साहा जैसे चोटी के वैज्ञानिकों के साथ हुई। माहेश्वरी ने

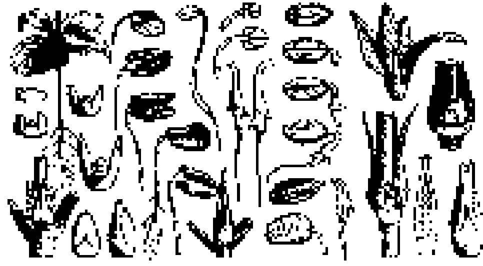
ढाका विश्वविद्यालय में 10 वर्ष काम किया और वहाँ वनस्पतिशास्त्र का एक फलता–फूलता केन्द्र स्थापित किया। 1947 में बँटवारे के पश्चात् पूर्वी पाकिस्तान के अधिकारियों ने उनसे अपना काम जारी रखने की विनती की। परन्तु तभी माहेश्वरी को एक ऐसा निमंत्रण मिला जिसे वे ठुकरा नहीं पाए।

1949 में दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति मौरिस ग्वायर (जो भारत में अन्तिम अँग्रेज़ मुख्य न्यायाधीश भी थे) ने माहेश्वरी को नवनिर्मित वनस्पतिशास्त्र विभाग का अध्यक्ष पद सम्भालने के लिए आमंत्रित किया। यह माहेश्वरी के जीवन का सर्वाधिक रचनात्मक एवं सफल काल रहा। 1950 में उनकी शोहरत दूर–दूर तक फैल चुकी थी। वे अद्‌भुत व्यक्तिगत गुणों से सम्पन्न थे और उनकी याददाश्त विलक्षण थी। वे स्पष्टवादी व रूढ़िमुक्त थे तथा उनमें असीम ऊर्जा थी। वे प्रखर विद्वान और प्रेरक शिक्षक थे। उनका मंत्र था – "कर्म ही पूजा है।" उनके आदर्श और मानदण्ड बहुत ऊँचे थे और वे घटिया काम कभी स्वीकार नहीं करते थे। वे अपने काम में मुस्तैद और समय के पाबन्द थे।

माहेश्वरी ने अपने छात्रों को कम कीमत के उपकरणों से शोध करने के लिए प्रेरित किया। धीरे–धीरे उनके प्रयासों का असर हुआ। जल्द ही उनके विभाग ने खूब प्रगति की और विदेशों में भी उसकी शोहरत फैली। इसके अलावा, विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों की भी वनस्पति भ्रूण–विज्ञान में रुचि जगी और वे भी इस विषय पर शोध करने लगे। माहेश्वरी को आधुनिक वनस्पति भ्रूण–विज्ञान का पिता कहा जा सकता है।



माहेश्वरी ने परखनली में फूल वाले पौधों के प्रजनन की तकनीक खोज निकाली। इससे पहले किसी ने परखनली में फूल वाले पौधों के प्रजनन की कल्पना तक नहीं की थी। इससे बीजों की सुप्त अवस्था की अवधि कम हुई और उनके प्रजनन की गति ने तेज़ी पकड़ी। अब फूलों वाले पौधों की अनेक संकर प्रजातियाँ



तैयार करना सम्भव था। पौधे तैयार करने वालों के लिए यह तकनीक उपयोगी सिद्ध हुई; इससे कई आर्थिक लाभ हुए एवं साथ ही आर्थिक तथा व्यावहारिक वनस्पति-शास्त्र में नए क्षेत्र खुलने का पथ प्रशस्त हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय में आने के तुरन्त बाद उन्होंने *एन इंट्रोडक्शन* टू द *एम्ब्रियोलॉजी ऑफ एंजियोस्पर्म्स* शीर्षक से एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक एक अनूठी कृति समझी जाती है और इसका अनुवाद रूसी भाषा समेत कई भाषाओं में हो चुका है। प्रकाशन के 50 वर्ष बाद भी इस किताब का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया जाता है।

माहेश्वरी के काम ने वनस्पतिशास्त्र के सभी पक्षों को छुआ, इसलिए उन्हें एक सम्पूर्ण वनस्पतिशास्त्री मानना गलत न होगा। माहेश्वरी और उनके छात्रों ने फलों वाले पौधों के सौ से भी अधिक कुलों का गहन अध्ययन किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने अनेक संदिग्ध त्रुटियों को पहचाना और उन्हें ठीक किया। दिल्ली की वनस्पतियों पर एक पुस्तक द *इलस्ट्रेटेड फ्लोरा ऑफ देहली (The illustrated Flora of Delhi)* उनके मार्गदर्शन में लिखी गई। यह पिछले 50 वर्षों से दिल्ली के प्रकृति-प्रेमियों और वनस्पतिशास्त्रियों के लिए एक अधिकृत फील्ड-गाइड का काम कर रही है।

1951 में उन्होंने इंटरनेशनल सोसाइटी ऑफ प्लांट मॉर्फोलोजिस्ट्स की



माहेश्वरी ने युवाओं को आकर्षित करने के लिए पौधों की शक्ति पर लोकप्रिय वैज्ञानिक लेख लिखे। उदाहरण के लिए, उन्होंने लिखा कि गाँधीजी के पहले सत्याग्रह का सम्बन्ध इंडिगोफेरा टिंकटोरा नामक एक पौधे से था, जिसके सत्व से कपड़ा उद्योग में काम आने वाला नीला रंग बनता था।

स्थापना की और साथ में उसकी विज्ञान पत्रिका *फाइटोमॉर्फोलॉजी (Phytomorphology)* शुरू की। युवा छात्रों के लेखन को प्रखर बनाने के लिए उन्होंने द *बॉटैनिका (The Botanica)* नामक पत्रिका शुरू की, जिसका प्रकाशन देहली यूनिवर्सिटी बॉटैनिकल सोसाइटी करती थी। पत्रिका में रोचक व ज्ञानवर्धक जानकारी होने के कारण उसे तुरन्त सफलता मिली। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) के आग्रह पर उन्होंने हायर सेकण्डरी स्कूल के छात्रों के लिए जीव विज्ञान की एक पाठ्यपुस्तक लिखी। उसमें भारतीय पेड़–पौधों के बहुत प्रेरक उदाहरण संकलित किए गए थे। बहुत से शिक्षाविद् इस पुस्तक को माहेश्वरी का चिरस्थाई एवं सर्वाधिक मौलिक योगदान मानते हैं।

कक्षा में माहेश्वरी अपने गुरु डुडजियोन जैसे ही थे। उनके छात्र उनसे एक ओर बहुत प्रेम करते तो दूसरी ओर डरते भी थे। उनके सम्मान में छात्रों ने पौधों की नई खोजी गई अनेक प्रजातियों को उनके नाम समर्पित किया – जैसे पंचाननिया जयपुरीएन्सिस, आईसोईट्स पंचानिनी। माहेश्वरी ने स्तालिन के प्रिय जीव वैज्ञानिक ट्रोफिम लाईसेन्को से अकेले लोहा लिया, जिन्होंने उपार्जित लक्षणों के वंशानुक्रमण की छलपूर्वक वकालत की थी।

पंचानन माहेश्वरी विश्व के वैज्ञानिक–नागरिक थे और कई देशों की वैज्ञानिक अकादमियों ने उन्हें अपनी सदस्यता प्रदान की। 1934 में वे भारतीय विज्ञान अकादमी, बैंगलोर के सदस्य बने। 1958 में इण्डियन बॉटैनिकल सोसाइटी ने उन्हें बीरबल साहनी पदक से सम्मानित किया। 1968 में उन्हें भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए चुना गया। परन्तु 18 मई 1966 को आकस्मिक मृत्यु के कारण यह भूमिका वे निभा नहीं पाए। 1966 में ही उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। माहेश्वरी एक गम्भीर व्यक्ति थे और उन्होंने यह बात अपने परिवारजनों तक को नहीं बताई। परिवार के लोगों ने बाद में यह खबर अखबार में पढ़ी।



इरावती कर्वे

(1905 - 1970)

इरावती कर्वे भारत की पहली महिला मानवशास्त्री (anthropologist) थीं। उन्होंने इस विषय को उस वक्त उठाया जब वह अपने बाल्यकाल में ही था। उन्होंने इस क्षेत्र में अग्रणी काम किया। इस विषय को पुणे विश्वविद्यालय में सबसे पहले पढ़ाने का श्रेय भी उन्हीं को है। वे भारतशास्त्री (Indologist) थीं और साथ ही लोकगीतों की संकलनकर्ता व नारीवादी गीतों की अनुवादक भी थीं। अपनी पुस्तक *युगान्त* में उन्होंने प्राचीन ग्रन्थ *महाभारत* की एक क्रान्तिकारी व्याख्या कर पाठकों की समझ को बदल डाला।



इरावती का जन्म 1905 में हुआ। उनके पिता गणेश हरि करमरकर म्यांमार (तत्कालीन बर्मा) में काम करते थे। इसलिए उनका नाम वहाँ की प्रसिद्ध नदी इरावदी पर रखा गया। सात साल की उम्र में इरावती को पुणे के हुज़ूर पागा बोर्डिंग स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। स्कूल में शकुन्तला परांजपे उनकी सहेली थी जो फरग्यूसन कॉलेज के प्राचार्य रैंगलर परांजपे की बेटी थी। शकुन्तला की माँ को इरावती पहली नज़र में भा गईं और उन्होंने इरावती को गोद ले

लिया। अपने नए घर में इरावती को एक अत्यन्त बौद्धिक माहौल मिला और बहुत सारी रोचक पुस्तकें पढ़ने को मिलीं।

इरावती ने फरग्यूसन कॉलेज में दर्शन शास्त्र का अध्ययन कर 1926 में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। फिर उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के विभागाध्यक्ष जी.एस. घूर्ये के मार्गदर्शन में काम करने के लिए दक्षिणा फैलोशिप मिली। इस बीच इरावती का विवाह रसायनशास्त्री दिनकर धोण्डो कर्वे से हुआ। दिनकर प्रसिद्ध समाजसेवी महर्षि कर्वे के सुपुत्र थे। महर्षि कर्वे ने विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा का बीड़ा उठाया था।

एक प्रगतिशील परिवार में शादी होने से कुछ खास फायदा नहीं हुआ। वैसे तो महर्षि कर्वे सार्वजनिक रूप से महिलाओं को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे, परन्तु यह उदारवाद उनके अपने परिवार पर लागू नहीं होता था। जब इरावती ने उच्च शिक्षा के लिए जर्मनी जाने की कोशिश की तो महर्षि कर्वे ने उसका पुरज़ोर विरोध किया।

विरोध के बावजूद इरावती 1928 में जर्मनी के कैसर विल्हेल्म इंस्टिट्यूट फॉर एन्थ्रोपॉलाजी में पीएच.डी. करने गईं। उनके शोध का विषय था – "द नार्मल एसिमेट्री ऑफ द ह्यूमन स्कल।" (The normal asymmetry of the human skull/मानव कपाल की सामान्य असममिति।) शुरुआत में ही इरावती और दिनकर समझ गए थे कि समाजसेवा उनके बस की बात नहीं है। इसलिए उन दोनों ने अध्यापन और शोध के क्षेत्र चुने। दिनकर रसायन विज्ञान के प्राध्यापक थे। वे बाद में फरग्यूसन कॉलेज के प्राचार्य बने। दिनकर अपनी पत्नी की विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा से परिचित थे और उन्होंने इरावती का भरपूर समर्थन किया। उन्होंने घर–गृहस्थी की ज़िम्मेदारी सम्हाली, ताकि इरावती अपना शोधकार्य कर सकें। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि हमेशा इरावती के स्कूटर में पेट्रोल और पर्स में पैसे रहें!



इरावती पुणे में स्कूटर चलाने वाली पहली महिला थीं। उन्होंने माँग में कुमकुम भरने और मंगलसूत्र पहनने से इन्कार कर दिया। परन्तु चन्द परम्पराएँ तोड़ने के बावजूद इरावती ने एक मध्यमवर्गीय



हिन्दू जीवन ही जिया। स्कूल में उन्होंने संस्कृत सीखी जो उस काल के छात्रों के लिए अनिवार्य थी। इरावती के पिता ने उन्हें भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित *महाभारत* के 18 खण्ड भेंट किए। इरावती को यह भेंट बहुत पसन्द आई। बाद में उन्होंने *महाभारत* पर आधारित अपनी मौलिक कृति *युगान्त* लिखी। इसे 1967 में साहित्य अकादमी ने मराठी की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक के रूप में पुरस्कृत किया। इस पुस्तक में भारतीयों द्वारा सदियों से सम्मानित *महाभारत* के उत्कृष्ट मानवीय पात्रों और महारथियों की पैनी समीक्षा की गई है।

जर्मनी से वापस आने के बाद इरावती ने 1931-36 के बीच बम्बई के एस. एन.डी.टी. विमेंस यूनिवर्सिटी में रजिस्ट्रार के पद पर काम किया। 1939 से उन्होंने नवनिर्मित डेक्कन कॉलेज, पुणे में समाजशास्त्र के रीडर के पद पर काम किया और वहीं से सेवानिवृत्त हुईं। कुछ समय तक वे समाजशास्त्र विभाग में एकमात्र प्राध्यापिका थीं। परिणामस्वरूप उन्हें इस विषय के सभी परचे पढ़ाने पड़ते थे, जो बहुत बोझिल काम था।

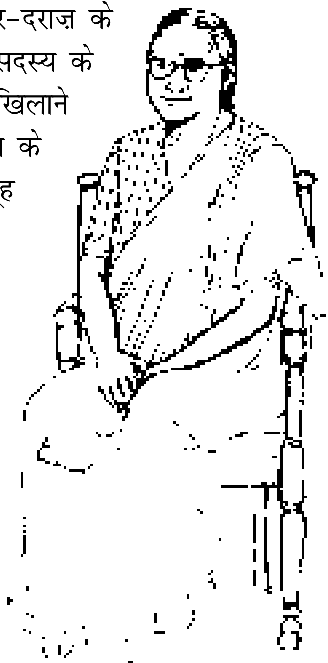
इरावती अपने एम.ए. के पर्यवेक्षक जी.एस. घूर्ये के शोध से प्रभावित थीं। दोनों ही भारतीय समाज के आधार के रूप में परिवार, सगोत्रता, जाति और धर्म के महत्व को समझते थे। इरावती समाज का अपेक्षाकृत अधिक समावेशी चित्र गढ़ने के लिए विभिन्न जातियों और आदिवासी समाजों का सर्वेक्षण करना चाहती थीं। इरावती बहुत जिज्ञासु थीं और पुरातात्विक

अन्वेषण जैसे शोध के नए क्षेत्रों में फील्ड वर्क (field work) करने की उनमें गहरी लगन थी।

इरावती ने कुल मिलाकर अँग्रेज़ी में 102 लेख और पुस्तकें लिखीं। उन्होंने आठ पुस्तकें मराठी में भी लिखीं। उनके लेखन का न केवल विस्तार विलक्षण था, बल्कि वह उनके समकालीन विद्वानों की तुलना में अद्वितीय भी था। उन्होंने शारीरिक मानवशास्त्र और पुरातत्व पर काम किया और पाषाण युग के कंकालों का उत्खनन किया। जाति व्यवस्था, लोकगीतों, महाकाव्यों और मौखिक परम्पराओं को भी उन्होंने लिपिबद्ध किया। उनके द्वारा किया गया साप्ताहिक बाज़ारों और बाँधों से उजड़े लोगों का सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण आज भी सामयिक और महत्वपूर्ण है।

बाद में इरावती के एक प्रतिभावान छात्र कैलाश मल्होत्रा ने दो घुमन्तू पशुपालक जनजातियों – धनगर और नन्दीवाला – की मानव पारिस्थितिकी पर पथप्रदर्शक शोध किया।

देश के प्रबुद्ध पुरातत्ववेत्ता हसमुख संकालिया ने एक घटना को याद करते हुए बताया कि एक बार वे और इरावती कहीं दूर-दराज़ के गाँव में सर्वेक्षण कर रहे थे। उनके दल के एक सदस्य के अछूत होने के कारण गाँव वालों ने उन्हें खाना खिलाने से इन्कार कर दिया। इस कारण दिन भर के काम के बाद थकी-माँदी इरावती को रात को खुद पूरे समूह



उन दिनों किसी महिला के लिए फील्ड-वर्क करना कोई आसान काम नहीं था। इरावती के अपने शब्दों में:

“मैं अपने काम के सिलसिले में इधर-उधर भटकती थी। मुझे यह तक नहीं पता होता था कि मेरा अगला कदम किधर उठेगा या अगला खाना कहाँ मिलेगा...। बीच-बीच में थोड़ा सुस्ताने और खाना खाने के बाद मैं लोगों से खचाखच भरी बसों में एवं आदमियों और औरतों से भरे रेल के तृतीय श्रेणी के डिब्बे में दुबारा सफर शुरू कर देती...।”

के लिए खाना भी बनाना पड़ता था। छुट्टियों में वे अपने काम के सिलसिले में घूमती रहतीं जबकि बच्चे घर पर ही रहते और उनकी लाई नई चीज़ें देखने और यात्राओं की रोचक कहानियाँ सुनने को आतुर रहते। कभी-कभी बच्चे भी उनके साथ घुमक्कड़ी पर निकल पड़ते। बेटी जाई उनके साथ मलाबार, बिहार और उड़ीसा आई और पुत्र आनन्द 'बेटा-कुरुबा' तथा 'जेना-कुरुबा' जनजातियों के चेहरों को नापने के लिए कूर्ग आया।

एक बार इरावती पुणे की मुला-मुठा नदी के किनारे घण्टों तक पाषाण-युग के पुराने औज़ारों को खोजती रहीं। एक अन्य यात्रा के दौरान रात में रुकने का कोई स्थान नहीं मिलने पर वे ट्रक में ही सोईं।

मराठी में उनके लेख बेमिसाल हैं, जिनमें वे खुद को शामिल करती हैं मगर साथ ही तटस्थ भी रहती हैं। उनके लेखों में एक समाजशास्त्री की अन्तर्दृष्टि और साथ-साथ एक लेखक की नज़र भी है, जिससे दुर्लभ अन्तर्दृष्टि की चमक और 'संस्कृति' का सजीव चित्रण उभरकर आते हैं। उनका एक प्रसिद्ध निबन्ध पण्ढरपुर की धार्मिक यात्रा के बारे में है। मराठी में 'वैयक्तिक निबन्धों' का सिलसिला पुनर्जीवित करने का श्रेय इरावती को जाता है।



इरावती ने वर्तमान और अतीत के बीच के रिश्ते की हमारी समझ को अधिक व्यापक बनाया है। एक बहु-सांस्कृतिक, बहु-भाषीय तथा बहुधार्मिक राज्य में राष्ट्र-निर्माण की समस्याओं तथा उसके महत्व से इरावती अच्छी तरह अवगत थीं। आज जब लाखों लोग बड़े बाँध परियोजनाओं के कारण बेघर हो रहे हैं, तब इरावती का कोयना बाँध सम्बन्धी सर्वेक्षण बहुत मायने रखता है। उन्होंने स्त्री के दृष्टिकोण से संवेदनशील लेखन किया, जैसे *महाभारत* ग्रन्थ में कुन्ती और द्रौपदी के मन की बात उभारना आदि। सगोत्रता और परिवार पर इरावती के पथप्रदर्शक सर्वेक्षणों ने भविष्य में अनेक क्षेत्रों में शोध की नींव रखी, विशेषकर नारीवादी अध्ययन के क्षेत्र में।



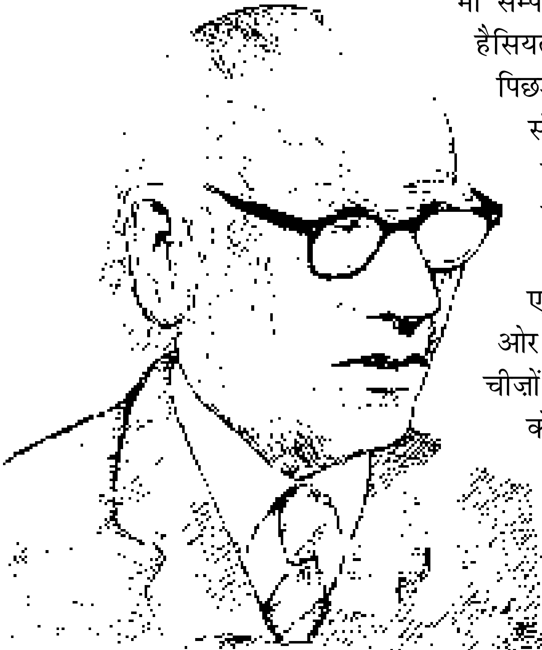
बी.पी. पाल

(1906 - 1989)

डॉ. बी.पी. पाल के नेतृत्व में ही भारत में गेहूँ पर कृषिवैज्ञानिक शोध दुनिया में सर्वश्रेष्ठ शोध के स्तर पर पहुँचा। सही मायने में वे भारत की हरित क्रान्ति के रचयिता थे।

– डॉ. नार्मन बोरलॉग (नोबल पुरस्कार विजेता)

बेंजामिन पियरी पाल एक प्रतिभाशाली आनुवंशिकी विज्ञानी और वनस्पति प्रजनक (plant breeder) तो थे ही, साथ में वे अद्भुत मानवीय गुणों से भी सम्पन्न थे। एक काबिल वैज्ञानिक की हैसियत से उन्होंने भारतीय कृषि के पिछड़ेपन को गहराई से समझा। प्राकृतिक सौन्दर्य और संगीत के प्रति उनमें एक गहरी संवेदना थी। पाल एक गर्मजोश और दयालु इन्सान थे और अपने साथियों के बहुत प्रिय थे। वे एक ओर गहन चिन्तक थे तो दूसरी ओर खूब मज़ाक भी करते थे। अनेक चीज़ों में उनकी रुचि थी। वे उच्च कोटि के चित्रकार थे तथा भारतीय और पश्चिमी दोनों प्रकार के शास्त्रीय





संगीत से उन्हें प्रेम था। इतनी अलग–अलग चीज़ों में गहरी रुचि रखने के कारण कुछ लोग उन्हें “भारतीय कृषि के होमी भाभा” मानते थे।

पाल का जन्म 26 मई 1906 को मुकन्दपुर, पंजाब में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा म्यांमार (तत्कालीन बर्मा) में हुई जहाँ उनके पिता चिकित्सा अधिकारी थे। म्यांमार में वे सेंट माइकल्स स्कूल में पढ़े और यहाँ उन्हें गुलाब के फूलों और चित्रकारी से प्रेम हुआ। स्कूल में गुलाब का एक खूबसूरत बाग था एवं उनके कई शिक्षकों की बागबानी और चित्रकारी में रुचि थी। पाल अपनी कक्षा में हमेशा प्रथम आते और एक बार इनाम में उन्हें एक पेंट–बॉक्स मिला। शायद इसी कारण उनमें सारी ज़िन्दगी के लिए चित्रकारी का जुनून पैदा हुआ।

1929 में उन्होंने एम.एससी. (वनस्पतिशास्त्र) में पूरे विश्वविद्यालय के विज्ञान संकाय में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए मैथ्यू हण्टर पदक जीता। इसके बाद वे केम्ब्रिज गए जहाँ उन्होंने 1933 में पीएच.डी. पूरी की। रोलेण्ड बिफिन और फ्रैंक एंगलेडो के मार्गदर्शन में सम्पन्न उनका पीएच. डी. शोध–प्रबन्ध आज भी एक क्लासिक माना जाता है, जिसमें उन्होंने पहली बार गेहूँ की संकर प्रजातियों की सम्भावनाओं को उजागर किया। 1933 में ही उन्होंने बिहार स्थित पूसा में भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान (तत्कालीन इम्पीरियल एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टिट्यूट) में काम करना शुरू किया। 1937 में पदोन्नति के बाद वे वहीं इम्पीरियल इकोनॉमिक बॉटनिस्ट बने। 1936 के भूकम्प में पूसा इंस्टिट्यूट बुरी तरह ध्वस्त हो गया और उसे दिल्ली स्थानान्तरित कर दिया गया। तब पाल भी दिल्ली आ गए।



भारतीय कृषि के क्षेत्र में डॉ. पाल के महत्वपूर्ण योगदान को समझने के लिए हमें 1960 में



भारत में खाद्यान्नों की दयनीय स्थिति पर नज़र डालनी चाहिए। खाद्यान्नों की बेहद किल्लत के कारण सारी दुनिया भारत को भुखमरों का देश मानने लगी थी। उस दौरान हज़ारों-लाखों भारतीय अमरीका द्वारा पी.एल. 480 योजना के तहत दान दिए खाद्यान्नों की सहायता से ही अपना पेट भर पाए। पाल के नेतृत्व में शुरू हुई हरित क्रान्ति देश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन लाई और धीरे-धीरे भारत भुखमरों के देश से एक खाद्यान्न बाहुल्य वाला देश बना।

पाल ने कृषि के जिन पाँच क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया वे हैं – अनुसन्धान, शिक्षा, कृषि-विस्तार, संस्था निर्माण और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग। इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने अथक मेहनत और लगन से काम किया और हरेक क्षेत्र में सफलता हासिल की।

अनुसन्धान के क्षेत्र में पाल का प्रमुख काम बहुरोगी कीट निरोधी गेहूँ की संकर प्रजातियों का विकास करना था। जैविक विविधता के सन्तुलित विकास द्वारा ही कृषि उत्पादन बढ़ेगा, यह बात पाल को स्पष्ट विदित थी। व्यवस्थित ढंग से नए जीन (gene) खोजने के लिए उन्होंने प्लांट इंट्रोडक्शन डिविज़न (पादप परिचायन खण्ड) की स्थापना की। बाद में यही विभाग राष्ट्रीय पादप आनुवंशिक संसाधन ब्यूरो (National Bureau of Plant Genetic Resources) बना। उन्होंने उच्च तकनीकों का उपयोग कर आलू, टमाटर और तम्बाकू की नई-नई प्रजातियाँ विकसित कीं। इसके लिए उन्होंने विभिन्न संस्थाओं में प्रतिभावान वैज्ञानिकों को खोजा और सक्रियतापूर्वक उन्हें साथ जोड़ा।

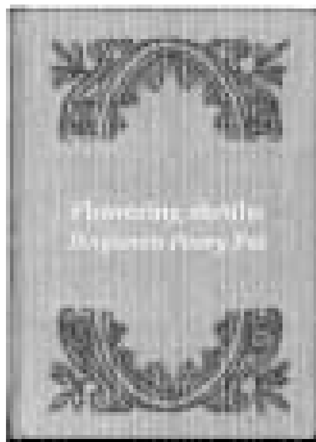
पाल को एहसास हुआ कि भारत जैसे विशाल और कृषि प्रधान देश को



भविष्य में उच्च कोटि के कृषि वैज्ञानिकों की एक बड़ी फौज की ज़रूरत होगी। भारतीय कृषि की तरक्की का एकमात्र तरीका यही था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान में उच्च शिक्षा के लिए एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय स्थापित किया। जल्द ही उसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालय का दर्जा प्रदान कर दिया। इस संस्था से निकले चार हज़ार से भी अधिक एम.एससी. और पीएच.डी. शोध छात्रों ने भारत की दसियों करोड़ जनता को भोजन उपलब्ध कराया और देश को खाद्यान्नों में आत्म-निर्भर बना दिया।

पाल व्यावहारिक अनुसन्धान के लिए उत्तम गुणवत्ता के बुनियादी शोध को ज़रूरी मानते थे। इसके लिए उन्होंने भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान में मूलभूत आनुवंशिकी स्कूल (School of Fundamantal Genetics) की स्थापना की। उन्होंने व्यावहारिक अनुसन्धान की समस्याओं के निदान के लिए कई संस्थाओं के साथ बहु-विषयी शोधकार्य की शुरुआत की। भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान के निदेशक की हैसियत से उन्होंने अनुसन्धान, शिक्षा और विस्तार के काम को बहुत आगे बढ़ाया।

पाल ने 1965-72 के दौरान भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद के महानिदेशक के पद पर काम किया। इसी काल में किसानों को गेहूँ, धान, बाजरा और मक्का की ज़्यादा पैदावार देने वाली संकर प्रजातियों के बीज बड़े पैमाने पर उपलब्ध हुए। हरित-क्रान्ति को और आगे बढ़ावा देने के लिए पाल ने पशुपालन और मछली पालन के अनुसन्धान पर भी बल दिया। इस दौर में भारत ने विश्व की सर्वश्रेष्ठ अनुसन्धान संस्थाओं से हाथ मिलाया और उनके साथ मिलकर शोध कार्य किया – मेक्सिको की संस्थाओं के साथ गेहूँ पर और फिलिपीन्स की संस्थाओं के साथ धान पर। पाल के प्रयासों से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर कृषि की प्रतिष्ठा फैली।



व्यावहारिक शोधकर्ताओं के लिए पाल का मंत्र था – "समस्याएँ खेत में सुलझाओ!" उनका दूसरा आदर्श वाक्य था, "प्रयोगशाला से खेत तक!" जिसे कार्यान्वित करने के लिए पाल ने अथक परिश्रम किया। उनका मानना था कि कृषि क्षेत्र में किसी भी नवाचार का अन्तिम मूल्यांकन अन्ततः किसान ही कर सकता है। कृषि के छात्र भारतीय समाज की जटिलताओं को अच्छी प्रकार समझ सकें, इसके लिए पाल ने भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद और भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान दोनों के ही पाठ्यक्रमों में सामाजिक विज्ञान से जुड़े अनेक विषय भी शामिल किए। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद का यह मॉडल इतना सफल हुआ कि उसे पाकिस्तान, बांग्लादेश, फिलिपीन्स और नाईजीरिया जैसे कई विकासशील देशों ने सहर्ष अपनाया।

भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद से सेवानिवृत्ति के बाद पाल ने अपनी सारी ऊर्जा पर्यावरण संरक्षण के काम में लगाई तथा वे राष्ट्रीय पर्यावरण संरक्षण एवं संयोजन समिति के पहले अध्यक्ष बने। पाल उच्च कोटि के गुलाब प्रजनक (rose breeder) थे और उन्होंने गुलाब की कई नई प्रजातियों का आविष्कार किया। वे रोज़ सोसाइटी (Rose Society) और बोगनवेलिया सोसाइटी (Bougainvillea Society) के भी अध्यक्ष थे। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एम.एस. रन्धावा के साथ मिलकर उन्होंने चण्डीगढ़ में रोज़ गार्डन (Rose Garden) स्थापित किया। उनका घर लोगों के लिए सदैव खुला रहता था और वे अनेक युवा एवं प्रौढ़ शोधकर्ताओं के मित्र, मार्गदर्शक व मददगार थे।

पाल ने इण्डियन सोसाइटी ऑफ जेनेटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग (Indian Society of Genetics and Plant Breeding) की स्थापना की और *इण्डियन जर्नल ऑफ जेनेटिक्स एंड प्लांट ब्रीडिंग (Indian Journal of Genetics and Plant Breeding)* का 25 वर्ष तक सम्पादन किया। फूलों के प्रति अपने प्रेम के प्रसार के लिए उन्होंने ढेरों लोकप्रिय पुस्तकें लिखीं, जिनमें *द रोज़ इन इण्डिया (The Rose in India)*, *ब्यूटिफुल क्लाइम्बर्स ऑफ इण्डिया (Beautiful Climbers of India)*, *फ्लावरिंग श्रब्स (Flowering*

Shrubs) और *एंवायरनमेंटल कंज़रवेशन एंड डेवलपमेंट (Environmental Conservation and Development)* उल्लेखनीय हैं।

वे अनेक अन्तर्राष्ट्रीय शोध संस्थाओं के न्यासी थे और उन्होंने बहुत से विकासशील देशों में कृषि अनुसन्धान को सही दिशा प्रदान की। वैज्ञानिक समुदाय में उनका रुतबा इतना बुलन्द था कि उन्हें रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। इसके अलावा उन्हें फ्रांस, जापान तथा तत्कालीन सोवियत संघ की विज्ञान अकादमियों और थर्ड वर्ल्ड एकॅडमी ऑफ साइंसेज़ (Third World Academy of Sciences) का भी सदस्य चुना गया। 1987 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म विभूषण से सम्मानित किया। 2007 में भारतीय डाक विभाग ने उनके सम्मान में उनके प्रिय गुलाब के फूलों के साथ उनका एक डाक टिकट जारी किया।

पाल गहरे मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत कोमल स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने गुलाब की जो नई प्रजातियाँ विकसित कीं उनके नाम सी.वी. रामन और होमी भाभा जैसे प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिकों के नाम पर रखे। उन्हें भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान से गहरा लगाव था और अन्त में वे अपनी पूरी सम्पत्ति, समस्त लेख, गुलाबों का संग्रह और दिल्ली एवं शिमला के मकान, सभी कुछ इसी संस्था को दान कर गए। उनका देहान्त 1989 में हुआ।





दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी

(1907 - 1966)

प्रोफेसर दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी क्रान्तिकारी चेतना से लैस बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे उन गिने–चुने भारतीयों में से थे जिन्होंने 20वीं सदी के विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्वभाव और उसके मानव जाति पर होने वाले प्रभाव को समझा था। प्रचार और प्रसिद्धि के पथ को नकारते हुए उन्होंने ज्ञान–विज्ञान के कई क्षेत्रों में अद्वितीय योगदान किया जिनमें गणित, सांख्यिकी, मुद्राशास्त्र, भारतविद्या (Indology), इतिहास और समकालीन सामाजिक समस्याएँ भी शामिल थीं। उन्होंने आण्विक हथियारों की खिलाफत की और विश्व शान्ति आन्दोलनों के लिए काम किया।



उनके कार्य का पटल बहुत विशाल था। पेशे से एक गणितज्ञ होने के बावजूद उन्होंने व्यावसायिक इतिहासकारों को भारतीय इतिहास को देखने के मौलिक नज़रिए सिखाए। लघु और लम्ब–पाषाणों तथा शिलास्तम्भों के उनके संग्रह से पुरातत्व–विज्ञान का महत्वपूर्ण विकास हुआ। उन्होंने प्राचीन काल के अनेक व्यापार मार्ग खोजे। वे कारला गुफाओं में



ब्राह्मी में लिखे शिलालेख पढ़ने वाले पहले व्यक्ति थे। कोसाम्बी ने व्यावहारिक समस्याओं को चुनकर उनका समाधान करने के लिए सांख्यिकी सीखी। उन्होंने सात हज़ार से भी अधिक आहत (punch-marked) सिक्कों को एक रासायनिक तराजू में बारीकी से तौला। सिक्कों पर उनके इस श्रमसाध्य शोध से मुद्राशास्त्र को एक वैज्ञानिक विषय का दर्जा प्राप्त हुआ। उन्होंने गुणसूत्रों के बीच की दूरी ज्ञात करने का एक सूत्र रचा जो आज शास्त्रीय आनुवंशिकी (classical genetics) का एक स्तम्भ है। हर विषय की बारीकी से जाँच–पड़ताल, गहन अध्ययन और विषय पर आधिकारिक पकड़ के साथ–साथ द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति द्वारा उन्होंने अनेक बुनियादी प्रश्न खड़े किए और अनेक सवालों के मौलिक उत्तर भी सुझाए।

1956 में उनकी पुस्तक *एन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री (An Introduction to the Study of Indian History)* प्रकाशित हुई। छपने के पाँच साल के भीतर ही यह पुस्तक विश्व भर के इतिहास के छात्रों व प्राध्यापकों के लिए अनिवार्य समझी जाने लगी। उसके बाद उनकी दो अन्य पुस्तकें, *मिथ एंड रियलिटी (Myth and Reality*) (1962) तथा द *कल्चर एंड सिविलाईज़ेशन ऑफ एंशेंट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन (The Culture and Civilisation of Ancient India - historical outline)* (1965) छपी। इन सभी पुस्तकों का विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। कोसाम्बी ने भर्तृहरि के काव्य तथा संस्कृत के सबसे पुराने संग्रह



सुभाषितरत्नकोष को सम्पादित किया। भारतीय ग्रन्थों की समालोचना के इतिहास में आज भी उनके इस कार्य को बहुमूल्य समझा जाता है।

कोसाम्बी ने न केवल भारतीय इतिहास के अध्ययन में बल्कि उसकी पद्धति के विकास में भी अनूठा योगदान दिया। वे यह नहीं मानते थे कि इतिहास सिर्फ मृत अतीत के बारे में होता है। उनके अनुसार इतिहास वर्तमान में भी जीता है। इसलिए इतिहास का अध्ययन करते हुए कोसाम्बी ने इस पर भी गौर किया कि आज लोग कैसे जीते हैं – वे क्या चीज़ें इस्तेमाल करते हैं, उनके रीति–रिवाज़ क्या हैं, वे क्या खाते हैं और कौन–से गीत गाते हैं? इन सब बातों के माध्यम से कोसाम्बी ने अतीत और वर्तमान के बीच एक निरन्तरता स्थापित की।



1990 के दशक की शुरुआत में कोसाम्बी के भारतीय इतिहास के दृष्टिकोण पर आधारित एक टेलिविज़न धारावाहिक बना – “इण्डिया इन्वेंटेड” (India Invented)। जाने–माने कार्यकर्ता एवं समाजशास्त्री अरविन्द नारायण दास ने इसका निर्माण किया। इस अद्वितीय धारावाहिक के सभी भाग अब इंटरनेट पर गूगल विडियो पर निःशुल्क उपलब्ध हैं।

दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी का जन्म 31 जुलाई 1907 को हुआ। उनके प्रारम्भिक साल कोंकणी भाषा में बात करते हुए गोवा में बीते। उनके पिता आचार्य धर्मानन्द कोसाम्बी बुद्ध धर्म के सुप्रसिद्ध विद्वान थे और पुणे स्थित फरग्यूसन कॉलेज में पाली भाषा पढ़ाते थे। इसलिए दामोदर की प्रारम्भिक शिक्षा पुणे में ही हुई। आचार्य धर्मानन्द हार्वर्ड विश्वविद्यालय में विज़िटिंग प्रोफेसर थे, जहाँ वे पाली में लिखित बौद्ध ग्रन्थों पर शोधकार्य करते थे। 1918 में अपनी दूसरी हार्वर्ड यात्रा के दौरान आचार्य धर्मानन्द अपनी 19 वर्षीय बेटी माणिक और 11 वर्षीय बेटे दामोदर को भी अपने साथ अमरीका ले गए। तब तक दामोदर को सब लोग ‘बाबा’ नाम से जानने लगे थे। पहले वे केम्ब्रिज ग्रामर स्कूल में और उसके बाद केम्ब्रिज लैटिन स्कूल में पढ़े। चार साल बाद आचार्य कोसाम्बी भारत आए परन्तु बाबा अपनी

स्कूली पढ़ाई पूरी करने के लिए अमरीका में ही रुके। इसके बाद वे भारत आए और उन्होंने यहाँ के महाविद्यालय में दाखिला लेने की कोशिश की। परन्तु दोनों देशों में भिन्न शिक्षा प्रणालियाँ होने के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया। इसलिए 1926 में बाबा अमरीका वापस गए और उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दाखिला लिया।

दामोदर अपने शरीर को चुस्त रखने के लिए नियमित रूप से वर्जिश और तैराकी करते; साथ ही वे नाव चलाते और पर्वतारोहण भी करते। पढ़ाई में उन्हें बहुत अच्छे अंक मिलते। परन्तु एक सेमेस्टर में उन्हें तीन 'ए' और एक 'बी' ग्रेड मिला। इससे उनके पिता नाराज़ हुए। इस चुनौती को स्वीकार करते हुए बाबा ने गर्मियों की छुट्टियों में इतालवी भाषा का एक कोर्स किया। इस भाषा का उन्हें पहले बिलकुल भी ज्ञान न था। इस कोर्स में उन्हें उनके टीचर ने 'ए+' ग्रेड दिया। साथ में टिप्पणी भी लिखी कि उन्होंने अपने जीवन में पहली बार किसी को यह ग्रेड दिया है। इस टिप्पणी को बाबा ने अपने पिता को भेजा। हार्वर्ड में बाबा के कमरे में अनेक विषयों की पुस्तकें भरी रहती थीं। उनके कमरे में गाँधीजी की एक तस्वीर भी लटकी रहती थी।

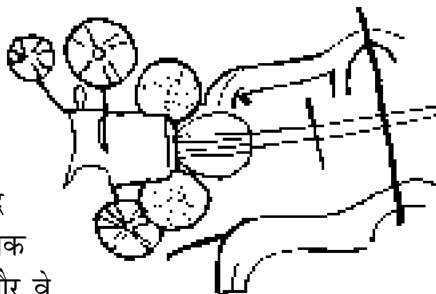
कोसाम्बी ने गणित की उच्च शिक्षा के साथ-साथ कई यूरोपीय भाषाएँ – ग्रीक, लैटिन, फ्रांसीसी और जर्मन भी सीखीं। उन्होंने संस्कृत, ब्राह्मी और प्राकृत भी सीखी। अमरीका के समृद्ध पुस्तकालयों में वे ज्ञान के सभी पहलुओं से परिचित हुए। खगोलशास्त्र से लेकर भौतिक विज्ञानों तक एवं मानव मस्तिष्क की गहराइयाँ नापने से लेकर मनुष्यों का साझा अतीत खोद निकालने तक, तमाम विषयों में उनकी रुचि जागृत हुई। अपनी बौद्धिक क्षमताओं और ऊर्जा के लिहाज़ से कोसाम्बी इनमें से किसी भी एक क्षेत्र में उत्तम अनुसन्धान कर खुद को स्थापित कर सकते थे। परन्तु उन्होंने गणित को ही चुना क्योंकि गणित का जादू उनका मन मोह चुका था। गणित के नतीजों में स्पष्टता होती है और इससे उन्हें बौद्धिक रूप से सन्तुष्टि मिलती थी।



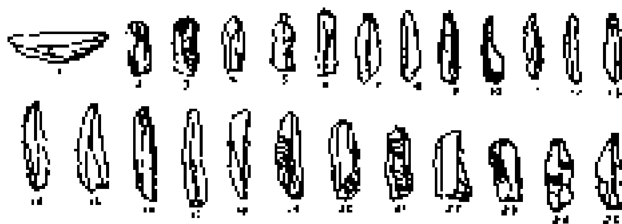
1929 में कोसाम्बी ने उच्च श्रेणी में हार्वर्ड से अपनी शिक्षा पूर्ण की। उस दौर की आर्थिक मन्दी के कारण शिक्षा में वज़ीफा मिलना बहुत कठिन था, इसलिए वे भारत वापस लौट आए। उसके बाद वे सारी ज़िन्दगी भारत में अपनी सांस्कृतिक जड़ों के करीब ही रहे।

कोसाम्बी ने जीवन भर गणित पढ़ाया। 1929–31 के दौरान उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। यहाँ उन्होंने गणित के साथ–साथ जर्मन भाषा भी पढ़ाई। जर्मन को कोसाम्बी विज्ञान की भाषा मानते थे। कुछ समय उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में भी पढ़ाया। 1933 में उन्होंने पुणे स्थित फरग्यूसन कॉलेज में अध्यापन शुरू किया। यहाँ उनकी गिनती कड़े और दुरूह शिक्षक के रूप में होने लगी। वे उन छात्रों में लोकप्रिय नहीं थे जो परिश्रम करना पसन्द नहीं करते थे। मगर प्रतिभावान व गम्भीर छात्र उनकी बहुत प्रशंसा करते थे। 14 साल गणित पढ़ाने के बाद कोसाम्बी ने महाविद्यालय के अधिकारियों के साथ गम्भीर मतभेदों के कारण फरग्यूसन कॉलेज छोड़ दिया। वे परीक्षा आधारित शिक्षा प्रणाली और उसके अप्रेरक मानकों से बहुत दुखी थे।

1946 में उन्हें होमी भाभा ने बम्बई में नवनिर्मित टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडमेंटल रिसर्च (Tata Institute of Fundamental Research) में काम करने के लिए आमंत्रित किया। भाभा और कोसाम्बी दोनों के व्यक्तित्व में भिन्नता होने के कारण उनके बीच मधुर सम्बन्ध कुछ ही सालों में खत्म हो गया। भाभा शोध से दूर चले गए; वे एक संस्था स्थापन के कार्य में लग गए और इस तरह एक विज्ञान प्रबन्धक बन गए। दोनों के बीच वैचारिक मतभेद भी थे: भाभा आण्विक–ऊर्जा को प्रोत्साहित कर रहे थे, जबकि कोसाम्बी पूर्णतः सौर–ऊर्जा के पक्षधर थे।



1962 में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडमेंटल रिसर्च में उनके अनुबन्ध का नवीनीकरण नहीं किया गया। 1964 में टाटा वैज्ञानिक एवं औद्योगिक परिषद ने उन्हें अवकाश–प्राप्त वैज्ञानिक की हैसियत से नियुक्त किया और वे



पुणे की महाराष्ट्र एसोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑफ साइंस (Maharashtra Association for Cultivation of Science) के साथ जुड़ गए।

मेजर जनरल इनायत हबीबुल्ला पुणे के पास खडकवासला में स्थित राष्ट्रीय सुरक्षा अकादमी (National Defence Academy) के पहले कमांडेंट थे। हबीबुल्ला खुद एक शौकिया पुरातत्व वैज्ञानिक थे। उन्होंने कोसाम्बी को अकादमी में एक पुरातत्व सोसाइटी (Archaeological Society) स्थापित करने के लिए आमंत्रित किया। यहाँ पर कोसाम्बी ने जिज्ञासु छात्रों और शिक्षकों को लघु और लम्ब–पाषाणों, शिलाकाटों और अन्य प्राचीन अवशेषों को खोजने के लिए प्रेरित किया।

1931 में कोसाम्बी का विवाह नलिनी मडगाँवकर से हुआ। उनकी बड़ी बेटी माया की कैंसर से आकस्मिक मृत्यु हो गई। उनकी छोटी बेटी मीरा पुणे की एक विख्यात समाज विज्ञानी हैं।

1949 में कोसाम्बी को पथ–ज्यामिति (path-geometry) सिखाने के लिए अतिथि प्राध्यापक के रूप में शिकागो आमंत्रित किया गया। बाद में उन्हें प्रिंसटन स्थित इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़ (Institute of Advanced Studies) में आमंत्रित किया गया जहाँ उनकी आइंस्टाइन से लम्बी चर्चाएँ हुई।



कोसाम्बी विश्व शान्ति आन्दोलन के सक्रिय सदस्य थे। उन्हें पंचशील का चिह्न बहुत पसन्द था। उन्होंने आग्रह कर इस चिह्न को अपनी पुस्तक इग्ज़ैस्पॅरेटिंग एसेज़ (Exasperating Essays) *में छपवाया।*

कोसाम्बी का द्वन्द्वात्मक पद्धति में विश्वास था मगर वे परम्परागत कम्यूनिस्ट पार्टियों की आलोचना करते थे जिन्हें वे आधिकारिक मार्क्सवादी (ऑफिशियल


2007 में कोसाम्बी शताब्दी समारोह के दौरान मीरा कोसाम्बी को उनके पिता का तैलचित्र भेंट किया गया।

मार्क्सिस्ट) कहते थे। आण्विक ऊर्जा के खिलाफ होने के कारण भाभा और उनमें बिलकुल नहीं बनी। जब जवाहरलाल नेहरू की पुस्तक *डिस्कवरी ऑफ इण्डिया (भारत की खोज)* प्रकाशित हुई तो कोसाम्बी ने उसकी अत्यन्त कठोर समीक्षा लिखी और भारतीय इतिहास को लेकर नेहरू की छिछली समझ को बेनकाब किया। अपने स्वतंत्र विचारों के कारण सरकार और वामपन्थी पार्टियाँ दोनों ने कोसाम्बी को दरकिनार कर दिया। कोसाम्बी ने 1934 में 26 वर्ष की आयु में पहला रामानुजन मेमोरियल पुरस्कार जीता और 1947 में उन्हें भाभा पुरस्कार मिला। यह भारतीय राज्य की असंवेदना का द्योतक है कि उसने देश के सर्वोच्च कोटि के इस बुद्धिजीवी को उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप कोई भी राजकीय सम्मान नहीं दिया।

2007 में कोसाम्बी की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में पुणे में प्रमुख बुद्धिजीवियों के व्याख्यानों की श्रृंखला का आयोजन किया गया। भारत सरकार ने काफी विलम्ब के बाद कोसाम्बी की याद में डाक टिकट जारी किया और पुणे विश्वविद्यालय में 'कोसाम्बी चेयर' की स्थापना के लिए एक करोड़ रुपए का अनुदान भी दिया।

मात्र 58 साल की अल्पायु में 29 जून 1966 को इस विलक्षण प्रतिभा का देहान्त हुआ। परन्तु शताब्दियों बाद भी लोग कोसाम्बी के बहुमुखी बौद्धिक योगदान को याद करेंगे।



होमी भाभा

(1909 - 1966)

होमी भाभा ने कहा था, “विश्व में अग्रणी भूमिका निभाने की आकांक्षा रखने वाला कोई भी देश बुनियादी या दीर्घकालीन वैज्ञानिक शोधकार्य की उपेक्षा नहीं कर सकता।” भाभा ने अकेले ही भारतीय परमाणु ऊर्जा की बुनियाद रखी और देश के अन्तरिक्ष और इलेक्ट्रॉनिकी कार्यक्रमों का पोषण किया। उन्होंने प्रतिभासम्पन्न लोगों के इर्द–गिर्द उच्च–कोटि की संस्थाएँ स्थापित कीं। एक दूरदर्शी व्यक्ति होने के नाते उन्होंने भविष्य में काम आने वाली अनेक संस्थाएँ स्थापित कीं, जैसे टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान (Tata Institute of Fundamental Research/ TIFR), भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र (Bhabha Atomic Research Centre/ BARC) और भारतीय अन्तरिक्ष अनुसन्धान संगठन (Indian Space Research Organisation/ ISRO।



भौतिक विज्ञानी एल्बर्ट आइंस्टाइन, हिदेकी युकावा, जॉन व्हीलर और होमी भाभा

होमी जहाँगीर भाभा का जन्म 30 अक्तूबर 1909 को बम्बई में एक प्रतिष्ठित पारसी परिवार में हुआ। टाटा से उनकी रिश्तेदारी थी। जिस घर में वे पैदा हुए वहीं आगे चलकर भारत के आण्विक कार्यक्रम की शुरुआत हुई। होमी की प्रारम्भिक शिक्षा बम्बई के कैथेड्रल और जॉन कॉनन स्कूलों में हुई। वे पढ़ाई में प्रवीण और पुस्तकों के बेहद शौकीन थे। पिता के विशाल पुस्तकालय ने उनके दृष्टिकोण को व्यापक बनाने में मदद की। चित्रकला और पाश्चात्य संगीत में भी होमी की गहरी रुचि थी।

सीनियर केम्ब्रिज की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने कुछ वर्ष बम्बई के रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस में पढ़ाई की। उसके बाद वे उच्च शिक्षा के लिए केम्ब्रिज चले गए। उनके पिता चाहते थे कि वे इंजीनियर बनें और टाटा समूह में किसी उच्च ओहदे पर काम करें। परन्तु होमी की रुचि केवल भौतिक विज्ञान के अध्ययन में थी। उन दिनों भौतिक विज्ञान में एक नई क्रान्ति की लहर आ रही थी और केम्ब्रिज उसका केन्द्र था।

होमी के उदार पिता ने उन्हें यांत्रिकी विज्ञान की प्रावीण्य परीक्षा में उत्तीण होने के बाद गणित विषय की प्रावीण्य परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी। 1932 में युवा भाभा ने राउज़-बॉल ट्रैवलिंग फैलोशिप जीती जिसके कारण

वे ज़्यूरिख में वॉल्फगैंग पाओली और रोम में एनरिको फर्मी के साथ काम कर पाए। उसके पश्चात् आईज़ैक न्यूटन छात्रवृत्ति मिलने से वे कुछ समय कोपेनहैगन स्थित नील्स बोह्र इंस्टिट्यूट में भी बिता सके। इस बीच भाभा ने प्रोफेसर आर.एच. फाउलर के मार्गदर्शन में अपनी पीएच.डी. पूरी की। प्रख्यात खगोलशास्त्री और नोबल पुरस्कार विजेता एस. चन्द्रशेखर के मार्गदर्शक भी फाउलर ही थे।

केम्ब्रिज के दिन भाभा के लिए रोमांचक थे। यहाँ उन्होंने इलेक्ट्रॉन–पॉज़िट्रॉन प्रकीर्णन (electron-positron scattering) की खोज की जो आज भाभा–प्रकीर्णन (Bhabha scattering) के नाम से जानी जाती है। वॉल्टर हाइटलर के साथ मिलकर उन्होंने 'कास्केड सिद्धान्त' (cascade theory) का प्रतिपादन किया, यानि अन्तरिक्षीय किरणों की बौछार की व्याख्या की। इन योगदानों के बाद भाभा की प्रसिद्धि युवा और निपुण भौतिक विज्ञानी के रूप में फैल गई।

1939 में भाभा कुछ दिनों की छुट्टी पर स्वदेश लौटे। उसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। युद्ध के कारण यूरोप में वैज्ञानिक शोधकार्य के लिए अनुदान बहुत कम हो गए। शायद इसमें कुछ अच्छाई छिपी थी, क्योंकि इस वजह से भाभा को भारत में ही कोई नौकरी ढूँढनी पड़ी। उनकी ख्याति के कारण भाभा को भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर (Indian Institute of Science) में नौकरी मिल गई। यहाँ उन्होंने सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट के एक अनुदान की सहायता से अन्तरिक्षीय किरणों पर अपना शोध कार्य आरम्भ किया।



बैंगलोर में भाभा के सैद्धान्तिक कार्य ने दो भार–अवस्थाओं वाले एक कण के लिए एक समीकरण की रचना की जो अब 'भाभा समीकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्हीं दिनों भाभा ने हरीश चन्द्र के साथ मिलकर भी काम किया जो बाद में उच्च कोटि के गणितज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हुए। ऊँचाई पर अन्तरिक्षीय किरणों के व्यवहार के अध्ययन के लिए भाभा ने गाईगर काउंटर टेलिस्कोप (Geiger Counter Telescope) बनाए और उन्हें भारतीय वायुसेना के हवाई जहाज़ों में उड़ाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भाभा फिर एक दोराहे पर आ खड़े हुए। वे वापस यूरोप जाएँ जहाँ वैज्ञानिक शोध की अपार सम्भावनाएँ थीं या फिर भारत में रहकर कार्य करें? उन्होंने अपने मित्र जे.आर.डी. टाटा से इसके बारे में राय माँगते हुए कहा, "हमारा कर्तव्य है कि हम अपने देश में रहें और अन्य देशों को जिन संस्थाओं पर नाज़ है उस स्तर की संस्थाएँ अपने देश में स्थापित करें।"

भाभा का विश्वास था कि ये 'उत्कृष्टता के केन्द्र' देश में परमाणु ऊर्जा के विकास के लिए वैज्ञानिक उपलब्ध कराएँगे और भविष्य में भारत को इस क्षेत्र में विदेशी विशेषज्ञों का मुँह नहीं ताकना पड़ेगा। मात्र एक लाख रुपए के अनुदान से भाभा ने 1 जून 1945 को टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान (Tata Institute of Fundamental Research) की स्थापना की। संस्था की शुरुआत बैंगलोर में हुई परन्तु चन्द महीनों के बाद ही संस्था बम्बई स्थानान्तरित कर दी गई और वह भी उसी बंगले में जहाँ भाभा का जन्म हुआ था।

देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और भाभा दोनों का सपना भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में स्वदेशी क्षमताओं के निर्माण और उनका विकास करना था। नेहरू ने देश में वैज्ञानिक संस्थाओं का ताना–बाना स्थापित करने

युवाकाल में भाभा ने अपने पिता से कहा, "कौन कहता है कि हम भारत में विज्ञान का कार्य नहीं कर सकते?" उन्होंने न केवल उच्च कोटि का अनुसन्धान किया बल्कि ऐसी बेहतरीन संस्थाएँ निर्मित कीं जिनमें हज़ारों भारतीय उच्च स्तर का शोध कर सकें।

के लिए भाभा को राजनैतिक छत्रछाया, साधन और खुली छूट प्रदान की।

शुरुआत में टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान में अन्तरिक्षीय किरणों और गणित पर केन्द्रित शोधकार्य प्रारम्भ हुआ। मगर धीरे–धीरे क्षेत्र फैलता गया। भाभा में प्रतिभाओं को पहचानने की अद्भुत क्षमता थी और वे सबसे योग्य एवं प्रखर वैज्ञानिकों को आकर्षित कर पाए। भाभा ने ऐसे वैज्ञानिकों के इर्द–गिर्द नए विभाग शुरू किए जो सक्षम नेतृत्व प्रदान कर सकें। उदाहरण के लिए, उन्होंने केम्ब्रिज से ओबेद सिद्दीकी को आण्विक जीव विज्ञान (molecular biology) समूह और स्टैनफोर्ड से गोविन्द स्वरूप को रेडियो दूरबीन के निर्माण के लिए आमंत्रित किया।



स्वतंत्रता के बाद नेहरू ने देश के परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम की बागडोर भाभा के हाथों में सौंपी। भाभा और नेहरू की अन्तरंग मित्रता एवं भाभा के अपार उत्साह और ऊर्जा ने लालफीताशाही पर लगाम कसी और फिर गाड़ी तेज़ी से आगे बढ़ी। टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान और भारतीय परमाणु ऊर्जा कार्यक्रम कुछ ही सालों में फलने–फूलने लगे।

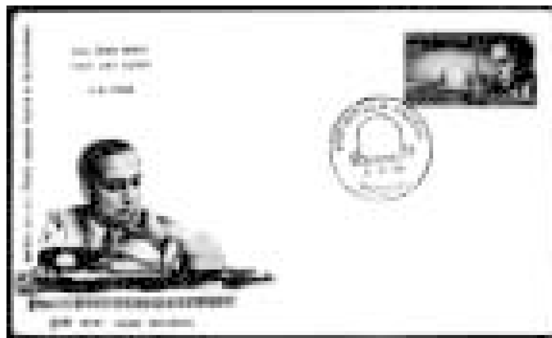
भाभा की उपलब्धियों के कारण उन पर पुरस्कारों की वर्षा होने लगी। 1941 में उन्हें रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप प्रदान की गई। 1948 में उन्हें हॉपकिन्स पुरस्कार मिला और 1954 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया। अनेक विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की उपाधियों से भी सुशोभित किया। भारत में परमाणु ऊर्जा के पितामह के रूप में उन्हें सदैव याद रखा जाएगा।

वैसे तो भाभा एक सैद्धान्तिक भौतिक विज्ञानी थे मगर उनका तकनीकी ज्ञान भी काफी अच्छा था। उन्होंने भारत के अन्तरिक्ष कार्यक्रम की नींव रखी जिसे बाद में विक्रम साराभाई और सतीश धवन ने बहुत कुशलता से विकसित किया। 1962 के चीनी आक्रमण के बाद भाभा ने इलेक्ट्रॉनिकी में भारत के पिछड़ेपन को पहचाना। इस क्षेत्र में भारत की तेज़ प्रगति के लिए इसकी रूपरेखा भी भाभा ने तैयार की।

भाभा बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। वे गणित की जटिलताओं और शास्त्रीय संगीत की बारीकियों को समान रूप से समझते थे। वे एक कलाकार थे और वे जीवन की सभी सुन्दर चीज़ों के पारखी थे – कला, संगीत, साहित्य, वास्तुशिल्प, बागबानी आदि। अपने बहुमुखी व्यक्तित्व के कारण अक्सर उनकी तुलना लियोनार्दो द विंची से की जाती थी। टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान का भवन बन जाने के बाद भाभा ने प्रसिद्ध चित्रकार मकबूल फिदा हुसेन को एक भित्तिचित्र बनाने के लिए आमंत्रित किया, जिसके लिए उस समय उन्हें 15,000 रुपए का भारी पारिश्रमिक दिया गया। बहुत कम लोग इस बात से अवगत हैं कि टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान के बजट का एक प्रतिशत कलाकृतियाँ खरीदने के लिए सुनिश्चित किया गया था। भाभा के खुद के बनाए चित्र अब भी टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान और भाभा परमाणु अनुसन्धान केन्द्र की इमारतों को सुशोभित कर रहे हैं।

भाभा विज्ञान और कला दोनों की दुनिया के बादशाह थे। अपनी अनेक ज़िम्मेदारियों के कारण उन्होंने कभी शादी नहीं की। एक बार जब एक संवाददाता ने उनसे इस विषय में पूछा तो उन्होंने जवाब दिया, “मैंने सृजनशीलता के साथ ब्याह रचाया है।”

जब भाभा अपने कैरियर के शीर्ष पर थे, मोंट ब्लैंक, फ्रांस में 24 जनवरी 1966 को एक हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। हवाई जहाज़ के सारे मुसाफिर मारे गए जिससे पूरा देश शोक में डूब गया।

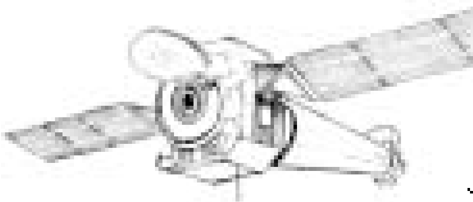


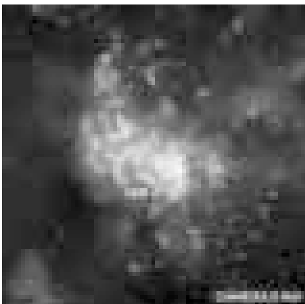
सुब्रह्मण्यन चन्द्रशेखर

(1910 - 1995)

बीसवीं शताब्दी में ऐसे अनेक वैज्ञानिक हुए जिनके शोध से प्रकृति के बारे में हमारी समझ में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। भारतीय मूल के वैज्ञानिक सुब्रह्मण्यन चन्द्रशेखर उनमें से एक थे। भौतिकी, खगोलशास्त्र और गणित के क्षेत्रों में उनके योगदान बेमिसाल हैं।

चन्द्रशेखर का जन्म 19 अक्तूबर 1910 को लाहौर में हुआ। उनके पिता सी. सुब्रह्मण्यन अय्यर विज्ञान के क्षेत्र में नोबल पुरस्कार पाने वाले सी.वी. रामन









व्यंगचित्र – गोपी गिजवानी
(साभार: आय.यू.सी.ए.ए. पुस्तकालय)

के भाई थे। श्री अय्यर रेलवे के लेखा विभाग में महालेखाकार थे। संगीत में उनकी गहरी रुचि थी। 11 वर्ष की आयु तक चन्द्रशेखर की पढ़ाई घर में ही हुई। उसके बाद वे मद्रास के हिन्दू हाई स्कूल में दाखिल हुए। फिर प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास से उन्होंने भौतिक विज्ञान में बी.ए. किया। शुरू से ही वे प्रतिभावान छात्र थे और ऐसा लगता था कि बड़े होकर कोई महान कार्य करेंगे। 18 साल की कम उम्र में उन्होंने पहला वैज्ञानिक शोधपत्र लिखा – "काम्पटन स्कैटरिंग एंड द न्यू स्टैटिस्टिक्स" (Compton Scattering and the new Statistics)। यह *प्रोसीडिंग्स ऑफ द रॉयल सोसाइटी* (Proceedings of the Royal Society) में छपा। स्नातक की उपाधि प्राप्त करने से पहले ही *फिलोसॉफिकल मैगज़ीन* (Philosophical Magazine) में उनके दो अन्य शोधपत्र छप चुके थे। अपनी प्रखर बुद्धि के कारण चन्द्रशेखर को केम्ब्रिज में शोधकार्य करने के लिए भारत सरकार का एक वज़ीफा मिला।

पानी के जहाज़ से इंग्लैण्ड जाते हुए चन्द्रशेखर ने एक खगोलशास्त्रीय समस्या पर गहरा चिन्तन-मनन किया। किसी भी तारे (हमारा सूर्य भी एक तारा है) का अन्त किस प्रकार होता है? सालों के विस्तृत शोध के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे कि जो भी तारे सूर्य के भार से 1.44 गुना छोटे होते हैं वे अन्ततः श्वेत वामन (white dwarf) में परिवर्तित होकर खत्म हो जाते हैं। 1.44 गुना की सीमा अब खगोलशास्त्र में चन्द्रशेखर सीमा (Chandrashekhar Limit) के नाम से मशहूर है।

1930-36 के बीच चन्द्रशेखर केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रॉल्फ

एच. फाउलर के मार्गदर्शन में इसी समस्या पर शोधकार्य करते रहे। 1933 में उन्होंने अपनी पीएच.डी. समाप्त की और उसके बाद वे ट्रिनिटी कॉलेज के फैलो चुने गए। 1935 में रॉयल एस्ट्रोनॉमिकल सोसाइटी ने उन्हें अपने शोधकार्य के परिणामों की चर्चा के लिए आमंत्रित किया। वहाँ वे एक बड़ी मुसीबत में फँस गए। विश्वविख्यात खगोलशास्त्री आर्थर एडिंगटन ने चन्द्रशेखर के शोध पर न केवल तीखी टिप्पणी की बल्कि उसका मज़ाक भी उड़ाया। चन्द्रशेखर को इसकी उम्मीद न थी। उन्हें धक्का तो लगा परन्तु उन्होंने अपने शोध की पुष्टि में ज़ोरदार प्रमाण रखे। उसके कुछ सालों बाद प्रत्यक्ष अवलोकनों ने चन्द्रशेखर के परिणामों की पुष्टि कर दी। एडिंगटन की जड़-बुद्धि के कारण खगोलशास्त्र का विकास लगभग दो दशकों के लिए थम गया!

जुलाई 1936 में चन्द्रशेखर ने पड़ोस में रहने वाली ललिता से शादी की। यह शादी उनके परिवारजनों ने तय नहीं की थी। ललिता स्नातक थीं और एक स्कूल में प्रधानाध्यापिका थीं।

1937 में चन्द्रशेखर ने शिकागो विश्वविद्यालय में अध्यापन शुरू किया और उन्हें येर्क्स प्रयोगशाला (Yerks Laboratory) में भेजा गया। 1944 में वे प्रोफेसर बने। 1950 के दशक के आरम्भ में विश्वविद्यालय के प्रमुख केन्द्र के साथ चन्द्रशेखर का नज़दीकी जुड़ाव हुआ। 1953 में चन्द्रशेखर और उनकी पत्नी ने अमरीकी राष्ट्रीयता ग्रहण कर ली।

चन्द्रशेखर का अपने छात्रों से अद्भुत लगाव था जो भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा के अनुरूप था। 1946 में वे सप्ताह में एक दिन अपनी प्रयोगशाला से शिकागो तक 250 किलोमीटर की दूरी तय करके केवल दो छात्रों की कक्षा लेने के लिए जाते थे! परन्तु वे जो कर रहे थे उसके नतीजे उन्हें अच्छी



तरह पता थे। 1957 में इन दोनों अमरीकी–चीनी छात्रों, ली और यांग को भौतिक विज्ञान का नोबल पुरस्कार मिला।

चन्द्रशेखर की कार्यपद्धति अनूठी थी। उनका मानना था कि एक ही संकुचित क्षेत्र में बहुत साल तक कार्य करते रहने से दिमाग कुन्द हो जाता है। इसलिए हर आठ–दस साल के बाद वे किसी नए क्षेत्र को चुनते, उसमें अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा उँड़ेलते, उसमें दक्षता हासिल कर मौलिक योगदान करते और फिर अपने शोध को एक उत्कृष्ट पुस्तक में सँजोते। मार्विन गोल्डबर्गर के अनुसार, "वे पहले उस विषय पर ढेरों शोधपत्र लिखते और अन्त में एक मोटी–सी किताब लिख डालते।" उसके बाद वे किसी नए क्षेत्र में अपना शोध शुरू कर देते। वे जीवन पर्यन्त अनुसन्धान के नए–नए क्षेत्र खोजते रहे और प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने कुछ मौलिक योगदान किया। वे नियमबद्ध तरीके से मेहनत करने के पक्ष में थे।

आइज़ेक न्यूटन की 1687 में लिखी प्रसिद्ध पुस्तक प्रिंसिपिया (Principia), *भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में विश्व की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है। पर उसे समझना आसान नहीं है। 1730 में वॉल्टेयर ने उसे दुर्बोध और अस्पष्ट करार दिया था। चन्द्रशेखर ने* प्रिंसिपिया *के महत्वपूर्ण नतीजों की आधुनिक तरीकों से व्याख्या की। परन्तु उन्होंने माना कि न्यूटन द्वारा सुझाए तरीके अधिक सुन्दर थे।*

बहुत से महान वैज्ञानिक ऊँचे ओहदों पर आसीन होकर खुद की सफलता के शिकार बन जाते हैं। दूसरी ओर चन्द्रशेखर हमेशा युवा वैज्ञानिकों की संगति में खुद को पुनर्जीवित करते रहते थे। वे सबसे अधिक खुश उस वक्त होते जब समस्याएँ एक स्वतःस्फूर्त गति पकड़ लेतीं और जब समस्याएँ कठिन हो जातीं और दूसरी समस्याएँ पैदा करने लगतीं। अन्त में उन्हें लगता कि उन समस्याओं को सुलझाना ही होगा, और फिर वे उनके हल खोजने के लिए बाध्य होते।

चन्द्रशेखर ने पहले आकाशगंगाओं के उद्गम – नक्षत्रीय गतिकी (Stellar Dynamics) – पर कार्य किया। 1940 में उन्होंने तारों के वातावरण में

विकिरण प्रसार – विकिरणशील स्थानान्तरण (radiative transfer) – विषय पर शोध किया। 1950 में उन्होंने द्रवगति स्थिरता (hydrodynamic stability) – द्रवों में विक्षेभ का एक विषय, जो एक अत्यन्त जटिल परिघटना है – पर अनुसन्धान किया। 1960 के दशक में बेहतरीन दूरबीनों की मदद से पल्सर (pulsar) तथा क्वासार (quasar) किस्म के सितारों की खोज हुईं। इन नई–नई खोजों की सैद्धान्तिक व्याख्या बेहद ज़रूरी थी। चन्द्रशेखर ने सामान्य सापेक्षता के सिद्धान्त (General Theory of Relativity) के आधार पर कृष्ण–विवर (black holes) का अध्ययन किया और अपनी उत्कृष्ट पुस्तक द *मैथमैटिकल थ्योरी ऑफ ब्लैक–होल्स (The Mathematical Theory of Black Holes)* में उनकी व्याख्या की। यह पुस्तक 1983 में प्रकाशित हुई। वे इस विषय पर अन्त तक काम करते रहे। उनका देहान्त 21 अगस्त 1995 को हुआ।

वैसे चन्द्रशेखर ने अपना अधिकतम समय विदेश में गुज़ारा परन्तु भारत हमेशा उनके मन में रहता था। भारतीय गणितज्ञ रामानुजन एक आदर्श वैज्ञानिक के रूप में चन्द्रशेखर के शलाका–पुरुष थे। उन्होंने मद्रास में रामानुजन इंस्टिट्यूट ऑफ मैथमैटिक्स स्थापित करने में वित्तीय सहयोग दिया। श्रीनिवास रामानुजन की पत्नी अत्यन्त गरीबी में ज़िन्दगी बसर कर रही थीं। चन्द्रशेखर ने उन्हें शासकीय पेंशन दिलाने में मदद की।

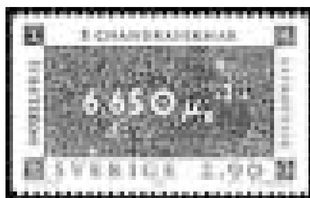
चन्द्रशेखर का काम के प्रति सम्पूर्ण समर्पण जल्द ही रंग लाया और उन्हें अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। 1944 में उन्हें लन्दन रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। 1966 में उन्हें अमरीका का नेशनल साइंस पदक मिला। भारत सरकार ने 1968 में उन्हें पद्म विभूषण से नवाज़ा। 1983 में उन्हें विश्व के उच्चतम पुरस्कार नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया।



चन्द्रशेखर की पुस्तकें और शोधपत्र विज्ञान के क्षेत्र में क्लासिक बन चुके हैं। उनका शोध अत्यन्त प्रखर और सटीक तो था ही, साथ–साथ वे व्यक्तिगत और बहुत नायाब शैली में लिखते थे।

चन्द्रशेखर की साहित्य और संगीत में गहरी रुचि थी और उन्होंने महान रूसी साहित्यकारों – दोस्तोयव्स्की, तुर्गनेव, तोलस्तॉय और चेखोव – की कृतियाँ पढ़ी थीं। थॉमस हार्डी, हेनरिक इब्सेन, बर्नार्ड शॉ और शेक्सपियर उनके प्रिय लेखक थे। वे अक्सर कला और विज्ञान के बीच अन्तर्सम्बन्धों पर भाषण दिया करते थे जिनका विस्तृत रूप उनकी पुस्तक *ट्रुथ एंड ब्यूटीः एस्थिटिक्स एंड मोटिवेशन्स इन साइंस (Truth and Beauty: Aesthetics and Motivations in Science)* में पढ़ा जा सकता है।

सम्भवतः कुछ अन्य विलक्षण वैज्ञानिकों के काम का समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा होगा परन्तु चन्द्रशेखर की छवि उनसे बिलकुल अलग है – उनका पूरा जीवन विज्ञान को समर्पित था। नासा (National Aeronautics and Space Administration) ने उनके आदर और सम्मान में 1999 में दुनिया की सबसे बेहतरीन एक्स–रे वेधशाला का नाम 'चन्द्र' रखकर उनके नाम और काम को सदा के लिए अमर कर दिया।



विक्रम साराभाई

(1912 - 1971)

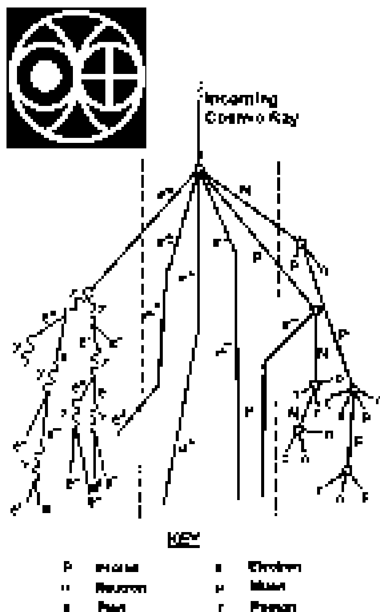
बचपन में विक्रम साराभाई को साइकिल के करतब दिखाने का बेहद शौक था। साइकिल को तेज़ी से चलाने के बाद वे अपने दोनों हाथ सीने पर रख लेते और दोनों पैर हैंडल पर। अगर सड़क सीधी होती तो वे अपनी आँखें बन्द करके साइकिल को नाक की सीध में दौड़ने देते। इस दौरान घर के सारे नौकर घबराते हुए उनके पीछे–पीछे दौड़ते और उनसे साइकिल रोकने की विनती करते। बचपन में खतरनाक करतब दिखाने वाला यह बालक बड़ा होकर अन्तरिक्षीय किरणों पर 80 शोधपत्र लिखने वाला वैज्ञानिक बनेगा, इसकी कल्पना करना कुछ मुश्किल है।



विक्रम का बचपन अनूठी परिस्थितियों में बीता। प्रतिभा के बीज शायद उनके बचपन के संस्कारों में मौजूद थे। विक्रम साराभाई एक धनी व्यापारी परिवार में जन्मे। अहमदाबाद में कपड़े की मशहूर कैलिको मिल उनके परिवार की थी। 1920 के दशक में पानी के जहाज़ से भारत लौटते हुए विक्रम के पिता अम्बालाल और माँ सरला ने शिक्षा पर मारिया

मॉण्टेसरी की क्रान्तिकारी पुस्तक पढ़ी। पुस्तक का उन पर इतना जादुई प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने बच्चों के लिए मॉण्टेसरी पद्धति पर आधारित एक विद्यालय शुरू किया! 21 एकड़ के परिसर में स्थित परिवार के इस निजी प्रायोगिक स्कूल में उनके आठों बच्चे पढ़े। बच्चों को माता-पिता की देखरेख में कई भारतीय और ब्रिटिश शिक्षकों ने घर पर ही पढ़ाया। जब विक्रम ने ठोका-पीटी में कुछ रुचि दिखाई तो उनके पिता ने उनके लिए एक कार्यशाला का ही प्रबन्ध कर दिया, जिसमें एक निरीक्षक भी था! विद्यालय में बच्चों को अपनी रुचि के अनुसार अनेक चीज़ें सीखने की छूट थी। साथ में उन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल नेहरू और रुक्मिणी देवी अरुंदले जैसे मेहमानों से भी मिलने का मौका मिलता था।

साराभाई परिवार धनी होने के साथ-साथ महात्मा गाँधी के भी बहुत करीब था। उन्हें अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारियों का गहरा बोध था। विक्रम की बुआ अनुसुइया ने शहर में कपड़ा मिल श्रमिकों का पहला मज़दूर संघ स्थापित किया। उनकी बहन मृदुला गाँधीजी की विचारधारा से बहुत प्रभावित थीं। मृदुला ने देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और वे कई बार जेल गईं।



स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के बाद विक्रम ने अहमदाबाद के गुजरात कॉलेज में कुछ समय पढ़ाई की, परन्तु बी.एससी. पूरा करने से पहले ही वे केम्ब्रिज विश्वविद्यालय चले गए और उन्होंने सेंट जॉन्स कॉलेज में दाखिला लिया। 1939 में उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान में प्रावीण्य परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ जिसकी वजह से उन्हें भारत वापस लौटना पड़ा। यहाँ वे भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर में सी.वी. रामन के मार्गदर्शन में अन्तरिक्षीय किरणों पर शोधकार्य करने लगे।



अन्तरिक्षीय किरणों पर शोध के दौरान विक्रम का ध्यान अन्तरिक्ष विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की ओर आकर्षित हुआ। यह रुचि काफी समय तक सुप्तावस्था में रही पर मौका मिलते ही उन्होंने भारत के अन्तरिक्ष कार्यक्रम के विकास में एक प्रमुख भूमिका अदा की। बैंगलोर में विक्रम की भेंट जानी-मानी भरतनाट्यम नृत्यांगना मृणालिनी स्वामिनाथन से हुई। बाद में इन दोनों ने विवाह कर लिया। साराभाई दम्पत्ति की दो सन्तानें हैं – बेटा कार्तिकेय और बेटी मल्लिका।

1945 में विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद साराभाई केम्ब्रिज वापस लौट गए। यहाँ उन्होंने प्रोफेसर ई.एस. शाएर के मार्गदर्शन में अपनी पीएच.डी. पूरी की। विषय था – *कॉस्मिक रे इंवेस्टिगेशंस इन ट्रॉपिकल लैटिट्यूड्स (Cosmic Ray Investigations in Tropical Latitudes)*। उनके शोधकार्य में आण्विक विखण्डन का भी उल्लेख था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के आदर्शवादी माहौल में विक्रम साराभाई ने कई संस्थाएँ स्थापित कीं – भौतिक अनुसन्धान प्रयोगशाला (Physical Research

Laboratory); दर्पना नृत्य अकादमी, जिसे उन्होंने अपनी पत्नी मृणालिनी के साथ स्थापित किया; तथा अहमदाबाद टेक्सटाइल इण्डस्ट्रीज़ रिसर्च एसोसिएशन (Ahmedabad Textile Industry's Research Association), जो कि कपड़ों पर शोध करने वाली भारत की पहली सहकारी संस्था थी। बाज़ार पर शोध करने वाली भारत की पहली संस्था, ऑपरेशंस रिसर्च ग्रुप (Operations Research Group) तथा भारतीय प्रबन्ध संस्थान (The Indian Institute of Management) भी उन्होंने स्थापित किए। राष्ट्रीय डिज़ाइन संस्थान (National Institute of Design) को स्थापित करने में भी उन्होंने मदद की। ये भिन्न-भिन्न गतिविधियाँ साराभाई की बहुविध रुचियों और बहुमुखी प्रतिभा की द्योतक हैं। सभी परियोजनाएँ वे बहुत सूझ-बूझ से बनाते और उनमें वैज्ञानिक पद्धति, आर्थिक नियोजन और राष्ट्रीय हित साफ झलकते थे।

रटाने वाली शिक्षा से उन्हें बेहद चिढ़ थी, इसलिए उन्होंने ग्रुप फॉर इम्प्रूवमेंट ऑफ साइंस एज्युकेशन (Group for Improvement of Science Education) का गठन किया। बाद में यह समूह नेहरू फाउंडेशन फॉर डेवलपमेंट (Nehru Foundation for Development) का अंग बना। उन्होंने अहमदाबाद में देश का पहला सामुदायिक विज्ञान केन्द्र स्थापित किया जिसका उद्घाटन 1968 में सी.वी. रामन ने अपने लोकप्रिय भाषण "आकाश नीला क्यों है?" से किया। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि साराभाई इतने भिन्न क्षेत्रों में श्रेष्ठ योगदान करने के लिए समय और ऊर्जा जुटा पाए।

इस ऊर्जा और उत्साह के चलते उनका देर तक छिपे रहना मुश्किल था। 1962 में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने देश के अन्तरिक्ष शोध कार्यक्रम के संगठन के लिए विक्रम साराभाई को आमंत्रित किया। उस समय विश्व के शक्तिशाली देश अन्तरिक्ष प्रौद्योगिकी को अपनी सैन्य-शक्ति और सत्ता बढ़ाने के लिए इस्तेमाल कर रहे थे। परन्तु साराभाई की दृष्टि उनसे बिलकुल भिन्न थी। उन्होंने भारत के लिए एक अनूठे अन्तरिक्ष कार्यक्रम की कल्पना की जहाँ जन-शिक्षा, संचार माध्यमों के विकास, मौसम भविष्यवाणी एवं खनिजों की खोज के लिए उपग्रहों का उपयोग किया जाता।

साराभाई उच्च प्रौद्योगिकी को देश के करोड़ों लोगों के हित में उपयोग करना चाहते थे। साथ ही वे संस्थाओं में एक परिष्कृत कार्यपद्धति का पोषण करना चाहते थे। वे चाहते थे कि पश्चिम के देशों की तरह भारत को विकास के लम्बे और कठिन दौर से नहीं गुज़रना पड़े। उनका विश्वास था कि नई तकनीक द्वारा भारत 'छलाँग' लगाकर पिछड़ेपन की खाई पाट पाएगा।

साराभाई ने *सैटेलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलिविज़न एक्सपेरिमेंट* (Satellite Instructional Television Experiment) की नींव रखी। इसके माध्यम से दूर–दराज़ स्थित गाँवों के स्कूलों में उपग्रहों द्वारा शैक्षणिक कार्यक्रम पहुँचाए गए। उन्होंने केरल के थुम्बा नामक स्थान पर चुम्बकीय भूमध्य रेखा के पास एक रॉकेट प्रक्षेपण स्थल की स्थापना की। बाद में विस्तार के बाद यह स्पेस साइंस एंड टेक्नॉलॉजी सेंटर (Space Science and Technology Centre) बना। (आज यह केन्द्र विक्रम साराभाई स्पेस रिसर्च सेंटर के नाम से जाना जाता है।) उन्होंने आन्ध्र प्रदेश के श्रीहरिकोटा में एक और रॉकेट प्रक्षेपण स्थल स्थापित किया और अहमदाबाद में सैटेलाइट कम्यूनिकेशन सेंटर (Satellite Communication Centre) की स्थापना की।

होमी भाभा की आकस्मिक मृत्यु के बाद साराभाई परमाणु ऊर्जा आयोग (Atomic Energy Commission) के अध्यक्ष बने। गाँधीजी से प्रभावित होने के कारण साराभाई का आण्विक हथियारों के प्रति रवैया बहुत सोचा–विचारा हुआ था। इस कारण आण्विक कुटुम्ब के कट्टरपन्थी लोग साराभाई को पसन्द नहीं करते थे और उनकी निन्दा करते थे। साराभाई ने पुगवॉश सम्मेलनों (Pugwash Conferences) में भाग लिया और आण्विक हथियारों के दुरुपयोग और परमाणु ऊर्जा के शान्तिपूर्ण उपयोग की चर्चा की।

अगर भारत कम–लागत के उपग्रह बनाने और चन्द्रमा केन्द्रित अनुसन्धान के लिए चन्द्रयान नामक उपग्रह भेजने में सफल हुआ है तो इसका बहुत–सा श्रेय विक्रम साराभाई को जाता है। उन्होंने इस कार्यक्रम के लिए पुरजोश समूह चुना और उसे बड़ी मेहनत से पोषित किया। इसमें चोटी के वैज्ञानिक ए.पी.जे. अब्दुल कलाम, ई.वी. चिटनिस, वसन्त गोवारिकर, प्रमोद काले, यू.आर. राव, कस्तूरीरंगन और अन्य शामिल थे।

अपने अपेक्षाकृत छोटे जीवनकाल में ही साराभाई ने देश के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किए। इसके लिए उन्हें कई पुरस्कारों से अलंकृत किया गया। 1962 में उन्हें भौतिक विज्ञान के लिए शान्तिस्वरूप भटनागर पुरस्कार मिला। 1966 में उन्हें पद्म भूषण और 1972 में पद्म विभूषण से सम्मानित किया गया।

विक्रम साराभाई काम की लगन में दिन–रात एक कर देते थे। एक बार उन्होंने ए.पी.जे. अब्दुल कलाम को रात साढ़े तीन बजे मिलने का समय दिया! शायद उन्हें अपनी मृत्यु का कुछ पूर्वानुमान था, इसलिए उन्होंने बेहद श्रम और लगन से जल्द ही मंज़िल तक पहुँचने का प्रयास किया। कठिन जीवन–शैली के कारण 30 दिसम्बर 1971 को दिल का दौरा पड़ने से विक्रम साराभाई का देहान्त हो गया। एक खानदानी और समृद्ध परिवार में पैदा हुए साराभाई अगर चाहते तो ऐशो–आराम की ज़िन्दगी बसर कर सकते थे, परन्तु वे देश की सेवा करते हुए अल्पायु में ही चल बसे। भारत को अन्तरिक्ष विज्ञान के अग्रिम पंक्ति के राष्ट्रों में लाकर खड़ा करने के लिए देश सदैव उनका कृतज्ञ रहेगा।

1974 में चन्द्रमा पर एक विवर (crater) को विक्रम साराभाई का नाम दिया गया। यह नाम आस्ट्रेलिया में सिडनी स्थित इंटरनेशनल एस्ट्रॉनॉमिकल यूनियन (International Astronomical Union) ने दिया। यूनियन ने चाँद पर 'सी ऑफ सिरिनिटी' (शान्ति सागर) नामक क्षेत्र में स्थित विवर 'बेसल' का नाम बदलकर 'साराभाई विवर' रखा।

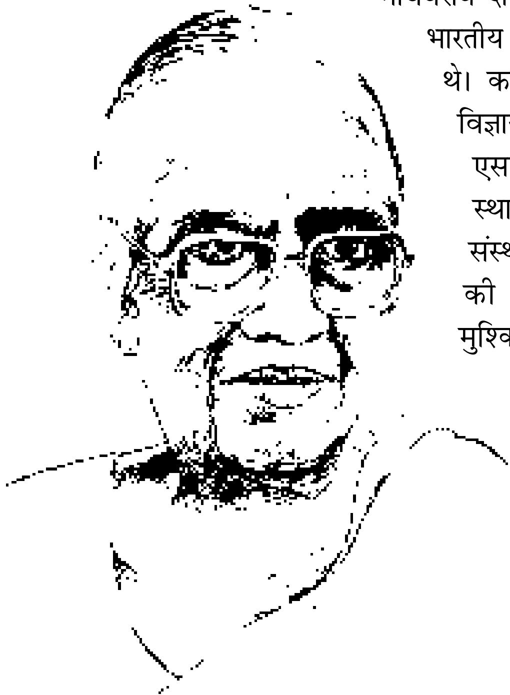


कमला सोहोनी

(1912 - 1998)

कमला सोहोनी विज्ञान के विषय में डॉक्टरेट की डिग्री हासिल करने वाली पहली भारतीय महिला थीं। उन्होंने ग्रामीण गरीबों के नियमित आहार के खाद्य पदार्थों के तीन प्रमुख समूहों का विस्तृत जैव-रासायनिक विश्लेषण किया और उनके पौष्टिक गुण प्रमाणित किए।

कमला का जन्म 1912 में हुआ। उनके पिता नारायणराव भागवत और चाचा माधवराव दोनों प्रसिद्ध रसायन शास्त्री थे। वे बैंगलोर के भारतीय विज्ञान संस्थान के पहले स्नातकों में से थे। कमला ने बम्बई विश्वविद्यालय से भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान विषयों के साथ बी. एससी. पास की। विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान अर्जित करने के बाद उन्हें बैंगलोर के संस्थान में आगे शोध के लिए दाखिला मिलने की पूरी उम्मीद थी। पर असल में यह बड़ा मुश्किल काम था।



विख्यात वैज्ञानिक और नोबल पुरस्कार विजेता सी.वी. रामन ने भारतीय विज्ञान संस्थान, रामन शोध संस्थान और देश में वैज्ञानिक शोध पत्रिकाओं की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। पर

रामन महिला विद्यार्थियों को लेने के विरुद्ध थे। इसलिए 1933 में, बावजूद इसके कि कमला अपने विश्वविद्यालय में प्रथम आई थीं, रामन ने उनके दाखिले को रद्द कर दिया! पर कमला आसानी से दबने वाली न थीं। कमला ने रामन का सामना किया और फिर वे मान गए।

रामन के कार्यालय में कमला के सत्याग्रह के बाद उन्हें परिवीक्षा के लिए दाखिला तो मिला, मगर एक शर्त पर – कि उनकी उपस्थिति से पुरुष शोधकर्ताओं के काम को कोई विघ्न न पहुँचे! कमला इससे बहुत दुखी हुईं। परन्तु उनके पास इस शर्त को स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा भी नहीं था।

कमला ने बाद में कहा, "वैसे रामन एक महान वैज्ञानिक थे परन्तु वे बहुत संकीर्ण विचारों के थे। एक महिला होने के नाते उन्होंने मेरे साथ जो सलूक किया उसे मैं कभी नहीं भूल सकती। इसके बाद भी रामन ने मुझे एक नियमित छात्र की तरह दाखिला नहीं दिया। मेरे लिए यह गहरे अपमान की बात थी। उस समय महिलाओं के प्रति लोगों का रवैया इतना खराब था। अगर एक नोबल पुरस्कार विजेता भी इस प्रकार का बर्ताव करे तो फिर अन्य लोगों से और क्या उम्मीद की जा सकती है?"

एक साल बाद रामन कमला की निष्ठा से सन्तुष्ट हुए और उन्होंने कमला को नियमित छात्र के रूप में जैव-रसायन (biochemistry) विभाग में शोध करने की अनुमति दे दी। इसके बाद से रामन ने संस्था में छात्राओं को दाखिला देना शुरू कर दिया। यह कमला के लिए एक बड़ी जीत थी। उनके संघर्षों की वजह से अन्य महिलाओं के लिए वैज्ञानिक शोध का रास्ता खुल गया।



भारतीय विज्ञान संस्थान में कमला ने अपने शिक्षक श्रीनिवासैया के मार्गदर्शन में बहुत परिश्रम किया। अपने उत्साही शिक्षक की प्रेरणा वे कभी नहीं भूलीं। उन्होंने कमला को जैव-रसायन की

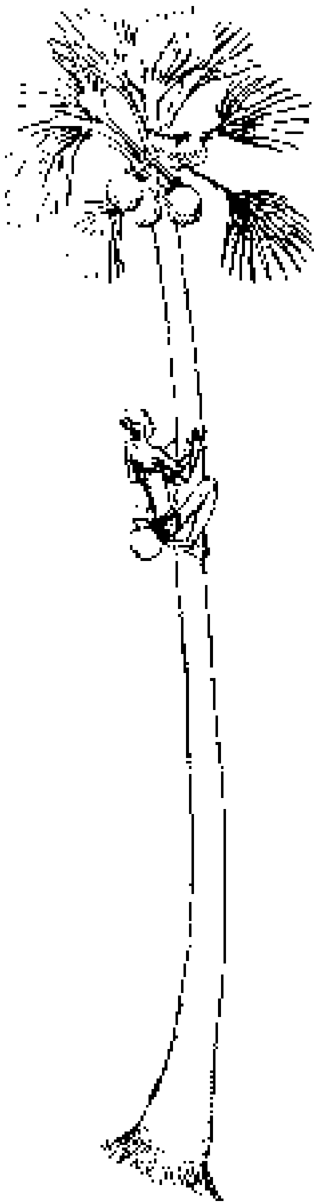
श्रेष्ठ पुस्तकें पढ़ने और उनके लेखकों से पत्र–व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित किया। कमला ने दूध और दलहनों में प्रोटीन पर शोध किया, जिससे देश के कुपोषितों को बहुत लाभ हुआ। 1936 में वे दलहनों से मिलने वाले प्रोटीनों पर शोधकार्य करने वाली पहली स्नातक थीं। इस शोध कार्य के लिए बम्बई विश्वविद्यालय ने उन्हें एम.एससी. की उपाधि प्रदान की। उसके बाद वे केम्ब्रिज विश्वविद्यालय गईं, जहाँ पहले उन्होंने डॉ. डेरिक रिक्टर की प्रयोगशाला में काम किया। रिक्टर ने कमला को काम करने के लिए एक लम्बी मेज़ दी। रात को प्रयोगशाला में रिक्टर उसी मेज़ पर सो जाते थे।

डॉ. रिक्टर के तबादले के बाद कमला वनस्पति ऊतकों (plant tissues) के विषय पर डॉ. रॉबिन हिल के मार्गदर्शन में काम करती रहीं। आलू पर शोध करते समय उन्होंने पाया कि प्रत्येक पौधे के ऊतक की कोशिका में 'साइटोक्रोम सी' (cytochrome C) नाम का एक पाचक रस (enzyme) होता है जो पौधे की कोशिकाओं के ऑक्सीकरण (oxidation) के लिए ज़िम्मेदार होता है। यह एक मौलिक खोज थी जो समूचे वनस्पति जगत् पर लागू होती थी।

दिग्गज वैज्ञानिकों के साथ काम करने का उनका सपना तब पूरा हुआ जब उन्हें दो वज़ीफे मिले। पहला था केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के सर विलियम डॉन इंस्टिट्यूट ऑफ बायोकेमिस्ट्री में नोबल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर फ्रेडरिक हॉपकिंस के साथ काम करने का मौका। यहाँ कमला ने जैविक ऑक्सीकरण और अपचयन (reduction) पर काम किया। दूसरा वज़ीफा एक अमरीकी छात्रवृत्ति थी जिसके अन्तर्गत कमला यूरोप की यात्रा कर वहाँ के जाने–माने वैज्ञानिकों से मिलीं।

केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पीएच.डी. के लिए कमला ने अपने संक्षिप्त शोधग्रन्थ में वनस्पति ऊतकों के साँस लेने की प्रक्रिया में 'साइटोक्रोम सी' के प्रभाव की व्याख्या की। उनका पूरा शोधग्रन्थ टाइप किए गए 40 पृष्ठों का था। उसके लिए शोध और लेखन को मिलाकर उन्हें केवल 14 माह का समय लगा।

1939 में वे भारत लौटीं और लेडी हार्डिंग कॉलेज, नई दिल्ली में नवनिर्मित



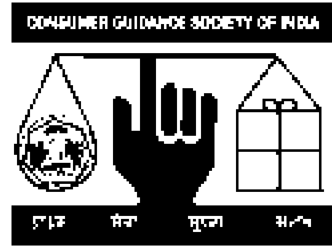
नीरा को ताड़ के पेड़ों से निकाला जाता है।

जैव-रसायन विभाग की प्रमुख बनीं। बाद में वे कुन्नूर स्थित न्यूट्रिशन रिसर्च लेबोरेटरी (Nutrition Research Laboratory) की सहायक निदेशक बनीं। यहाँ उन्होंने विटामिनों के प्रभाव पर शोध किया। 1947 में उनका विवाह एम.वी. सोहोनी से हुआ जिसके बाद वे बम्बई चली गईं।

बम्बई में कमला ने रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस (Royal Institute of Science) के नवनिर्मित जैव-रसायन विभाग में काम करना शुरू किया। उन्होंने अपने छात्रों को प्रासंगिक विषयों पर शोध करने के लिए प्रेरित किया। उनके कई छात्रों ने बाद में बहुत नाम कमाया और उच्च दर्जे का वैज्ञानिक शोध किया। कमला ने अपने छात्रों के साथ मिलकर ग्रामीण गरीब लोगों द्वारा खाए जाने वाले खाद्यान्नों के तीन समूहों का सविस्तार विश्लेषण किया और उनमें पाए जाने वाले पोषक तत्वों की सूची तैयार की। इस शोधकार्य में दलहनों के प्रोटीन, ट्रिपसिन (trypsin) नामक पाचन ऊतकों के निरोधन और भारतीय दालों की पाचन क्षमता कम करने वाले कुछ अन्य यौगिक भी शामिल थे। कमला ने नीरा, ताड़-गुड़, ताड़ का शीरा, और धान-आटा (धान को पॉलिश करने के दौरान बना आटा) पर भी शोध किया। ये चीज़ें समाज के सबसे गरीब लोग खाते हैं, इसलिए उनके शोध से सबसे कुपोषित लोगों को लाभ पहुँचा। कमला ने नीरा पर शोधकार्य भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के सुझाव पर प्रारम्भ किया था।

नीरा ताड़ के पेड़ से मिलने वाला एक पेय है। नीरा पीने में मीठा, स्वादिष्ट और बहुत पौष्टिक होता है।

कुपोषित गर्भवति आदिवासी महिलाओं और किशोरों को नियमित रूप से नीरा देने पर उनके समूचे स्वास्थ्य में उल्लेखनीय सुधार हुआ। नीरा के पौष्टिक गुणों पर शोधकार्य के लिए कमला सोहोनी को राष्ट्रपति पुरस्कार मिला।



कमला कंज़्यूमर गाइडेंस सोसाइटी ऑफ इण्डिया (Consumer Guidance Society of India) की सक्रिय सदस्य थीं और वहाँ उन्होंने बहुत लगन से काम किया। 1982-83 में वे इस सोसाइटी की अध्यक्ष बनीं। उन्होंने इस संस्था के मुखपत्र *कीमत* के लिए अनेक लेख लिखे।

हालाँकि कमला अपने शोधकार्य से खुश थीं परन्तु वे अपने संस्थान की राजनीति और लोगों के राग-द्वेष से खिन्न भी थीं जिसके चलते लम्बे अरसे तक उन्हें संस्थान के निदेशक पद से वंचित रखा गया। अपनी सफलता का श्रेय उन्होंने अपने पिता, अपने शिक्षक श्रीनिवासैया और पति को दिया।

अन्त में जब वे रॉयल इंस्टिट्यूट ऑफ साइंस की निदेशक बनीं तो केम्ब्रिज में उनके पहले मार्गदर्शक डॉ. डेरिक रिक्टर ने टिप्पणी की, "इतनी बड़ी वैज्ञानिक संस्था की पहली महिला निदेशक बनकर कमला ने इतिहास रचा है।"

कमला सोहोनी का जीवन हमें भारत की अग्रणी महिला वैज्ञानिकों के संघर्षों की याद दिलाता है। विज्ञान के पुरुष-प्रधान क्षेत्र में किसी महिला का प्रवेश सुनिश्चित करने के लिए प्रखर बुद्धिमत्ता और पारिवारिक समर्थन ही पर्याप्त नहीं था। भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद की प्रथम महिला महानिदेशक डॉ. सत्यवती को कमला सोहोनी की संघर्षमय जीवनगाथा और उनके काम के बारे में पता चला तो उन्होंने कुछ करने की ठानी। उन्होंने 84 वर्षीय कमला को नई दिल्ली आमंत्रित किया और उनके सम्मान में एक बड़ा समारोह आयोजित किया। 1998 में, 86 वर्ष की आयु में, कमला सोहोनी का देहान्त हुआ।



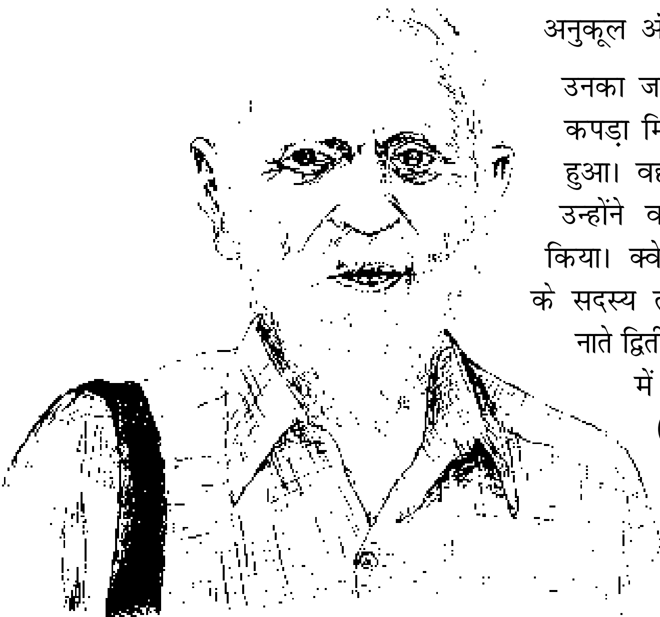
लॉरी बेकर

(1917 - 2007)

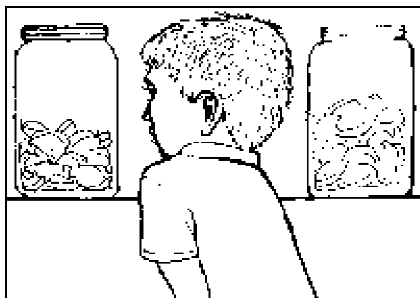
मैं कभी उच्च–आय, मध्यम–आय या निम्न–आय वर्ग, आदिवासी या मछुआरों के लिए घर नहीं बनाता हूँ। मैं केवल किसी मैथ्यू, किसी भास्करन, किसी मुनीर या किसी शंकरन के लिए घर बनाता हूँ।

– लॉरी बेकर

लॉरी बेकर एक विलक्षण वास्तुशिल्पी थे जिन्होंने गरीबों की ज़िन्दगी को छुआ। उन्होंने लोगों की वास्तविक ज़रूरतों को ध्यान में रखकर किफायती, कम ऊर्जा खपत वाले, वातावरण के अनुकूल और सुन्दर मकान बनाए।



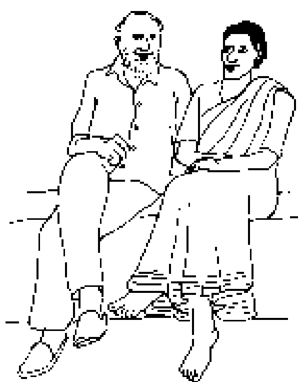
उनका जन्म 1917 में इंग्लैण्ड के कपड़ा मिलों के शहर बर्मिंघम में हुआ। वहीं पर वे बड़े हुए और उन्होंने वास्तुशिल्प का अध्ययन किया। क्वेकर (Quaker) समुदाय के सदस्य तथा शान्तिवादी होने के नाते द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत में वे एक चल–अस्पताल (ambulance unit) में शामिल हो गए। उसके



पैसों के असली मूल्य और मितव्ययिता का महत्व बेकर ने बचपन में ही सीख लिया था। छुटपन में वे अपना जेबखर्च स्थानीय बेकरी से बिस्कुट खरीदने में लगा देते थे। पर उन्हें जल्द ही पता चल गया कि वे उतने ही पैसों में साबुत बिस्कुटों की बजाय दोगुनी मात्रा में टूटे बिस्कुट खरीद सकते थे। और टूटे बिस्कुट खाने में साबुत बिस्कुटों जितने ही स्वादिष्ट होते! यह सबक बेकर जीवन भर नहीं भूले!

बाद युद्ध के दौरान अधिकांश समय चीन में एक स्वास्थ्य-कर्मी के रूप में काम करते रहे। इंग्लैण्ड वापस जाते वक्त उन्हें कुछ महीने बम्बई में बिताने पड़े जहाँ कुछ क्वेकर मित्र उन्हें एक दिन गाँधीजी से मिलाने ले गए। गाँधीजी ने जब बेकर की हाथ से बनाई कपड़े की चप्पल देखी तो उन्हें बहुत अचरज हुआ। गाँधीजी ने उनको समझाया कि भारत को उनके कौशल और विशेषज्ञता की सख्त ज़रूरत थी। इसलिए गाँधीजी ने बेकर से स्थाई रूप से भारत में रहने का आग्रह किया।

गाँधीजी की प्रेरणा से बेकर कुछ महीनों बाद भारत लौट आए और कुष्ठ-रोगियों के इलाज के लिए उपचार केन्द्र बनाने लगे। 1948 में उन्होंने डॉक्टर एलिज़ाबेथ जेकब से शादी की, जो वेल्लोर के प्रसिद्ध क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज में कार्यरत थीं। उसके बाद यह दम्पत्ति पिथौरागढ़ (उत्तराखण्ड) के एक सुदूर गाँव में जाकर बसा और वहाँ उन्होंने एक अस्पताल शुरू किया। एलिज़ाबेथ अस्पताल में एकमात्र चिकित्सक थीं। अस्पताल का बाकी सारा काम बेकर करते। जब अमरीकी शिक्षाविद् वेल्टी फिशर ने लखनऊ में साक्षरता भवन स्थापित करने की योजना बनाई तो उन्हें बताया गया कि भारत में सिर्फ एक वास्तुशिल्पी है जो उनके सपनों को नक्शे पर उतार पाएगा। बेकर ने लखनऊ में मानसिक रोगियों के प्रथम अस्पताल नूर मंज़िल का भी आकल्पन किया।


लॉरी बेकर व एलिज़ाबेथ

साठ के दशक के अन्त में बेकर अपनी पत्नी के गृहप्रदेश केरल आ गए और तिरुवनन्तपुरम में बस गए। बेकर ने 50 साल की उम्र के बाद ही पूर्णकालिक वास्तुशिल्पी के रूप में काम शुरू किया। बेकर ने पारम्परिक भारतीय उस्ताद कारीगर की तरह काम करना शुरू किया। यानी वे इमारतों का आकल्पन भी करते थे और उनका निर्माण भी करते थे। बेकर ने कभी किसी कार्यालय या सहायक की मदद नहीं ली। वे अक्सर पुराने कागज़ के टुकड़ों पर घरों के नक्शे बनाते और निर्माण स्थल पर ही डिज़ाइन बनाते। अधिकतर वास्तुशिल्पी केवल कागज़ पर रेखाएँ बना पाते हैं। लेकिन बेकर एक कुशल मिस्त्री और बढ़ई भी थे। उनकी सभी परियोजनाओं का कार्यभार कोई इंजीनियर नहीं, बल्कि मिस्त्रियों का एक समूह सम्हालता था जिन्हें वे खुद प्रशिक्षित करते थे। ठेकेदारों और दलालों को दरकिनार कर खुद निर्माण करने से निर्माण की कीमत बहुत कम हो जाती थी। बेकर पर्यावरण के प्रति बहुत संवेदनशील थे। इसलिए बहुत अधिक ऊर्जा से बने लोहे और सीमेंट जैसी सामग्री का वे कम उपयोग करते थे। वे हमेशा कहते, “उम्र में सीमेंट मुझसे छोटा है।” इस बात में सच्चाई थी, क्योंकि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही सीमेंट बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होना शुरू हुआ था।

हिमालय में अपने लम्बे प्रवास के दौरान बेकर को परम्परागत भारतीय वास्तुशिल्प की बारीकियाँ समझ में आईं। यहाँ हज़ारों सालों के व्यावहारिक शोध के बाद लोगों ने ऊर्जा बचाने वाले मकान बनाने के तरीकों में दक्षता हासिल की थी। पहाड़ पर लोग स्थानीय पत्थरों और लकड़ी से मकान बनाते हैं। यह सामान घर से 100-200 गज़ की दूरी पर ही मिल जाता है। यह देखकर बेकर को गाँधीजी की यह बात याद आई कि घर बनाने का सारा सामान निर्माण-स्थल से पाँच मील के दायरे से ही आना चाहिए।



ईंट के टुकड़े (COB) ऊँचाई के अलावा हर काम के लिए उपयोगी होते हैं। ये वक्र या गोल दीवारों के लिए खासतौर पर उपयोगी हैं।



दबाकर तैयार की गई मिट्टी काफी मज़बूत होती है और ठोस, कम ऊँचाई वाले एक मंज़िला घरों के लिए अच्छी होती हैं।



धूप में सुखाई गई ईटों (ADOBE) से आसानी से दो-मंज़िला घर बनाए जा सकते हैं।

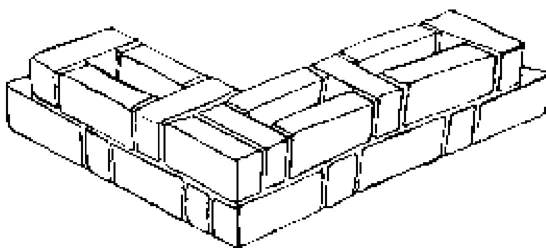


दबाकर और भट्ठी में बनाई गई ईटों से तीन-मंजिली इमारतें भी बनाई जा सकती है।



बाँस, बेंत या लकड़ी की जाली पर मिट्टी, रेत और गोबर की लिपाई से बनी दीवारें (Wattle & Daub) बहुत सुन्दर दिखती हैं। ये खासतौर पर भूकम्प वाले इलाकों के लिए अच्छी रहती हैं।

बेकर इस सिद्धान्त का पूरी तरह पालन नहीं कर पाते थे परन्तु वे इसके काफी करीब आ गए थे। वे लोहे और काँच दोनों के उपयोग के बहुत खिलाफ थे क्योंकि इनके बनाने में बहुत ऊर्जा व्यय होती है। परन्तु वे अक्सर अपने बनाए घरों में काँच की रंगीन बोतलों को दीवारों में धँसा देते। इससे घर में रंग-बिरंगी रोशनी फैल जाती। ईंटों से बेकर को विशेष प्रेम था। वे ईंटों को रैट-ट्रैप बन्धन (Rat-trap bonds/चूहेदानी शैली) में सजाते। इस तरह वे ऊष्मा निरोधी दीवार बना पाते और साथ ही 25 प्रतिशत ईंटों की बचत भी कर लेते। ईंटों से बनाई उनकी जालियाँ घर में ठण्डी बयार लातीं तो छत में बने झरोखे अन्दर की गर्म हवा को बाहर ढकेलते। वे ईंटों को आपस में जोड़ने के लिए चूने का गारा उपयोग करते। केरल में समुद्र की सीपियों से निर्माण स्थल पर ही चूना बनाना सम्भव था। बेकर ने छत निर्माण में लोहे की जगह बाँस का उपयोग कर खर्च में 80 प्रतिशत कटौती की। वैसे निर्माण के लिए बेकर की सबसे प्रिय वस्तु मिट्टी थी, जिसे बनाने में शून्य ईंधन लगता और जो आसपास बिलकुल



रैट-ट्रैप बन्धन से 25 प्रतिशत ईंटें बचती हैं और हवा की तहें इमारत के लिए ऊष्मारोधक का कार्य करती है।

मुफ्त में मिल जाती। उन दिनों भारत में 58 प्रतिशत घर मिट्टी के ही बने होते थे। हर प्रकार के मौसम की मार झेलते हुए वे सैकड़ों साल खड़े रहते थे। मिट्टी की एक और खासियत है – उसे बार-बार इस्तेमाल किया जा सकता है। आप मिट्टी के अपने मकान को ढहाकर और उसमें पानी मिलाकर नया मकान बना सकते हैं। काँच और लोहे से ऐसा करना सम्भव नहीं है।

बेकर ने हज़ारों सालों की जाँची-परखी निर्माण सामग्री, कुशलताओं और डिज़ाइनों का उपयोग कर आरामदेह मकान और कार्यालय बनाए। इनमें बिजली, पानी और कई बार गैरिज की सुविधा भी थी। बेकर का मानना था कि “वास्तुशिल्प एक महत्वपूर्ण विषय है और उसे सिर्फ वास्तुशिल्पी के भरोसे नहीं छोड़ा जाना चाहिए।” उन्होंने कम कीमत के भवन निर्माण पर एक दर्जन से अधिक सचित्र पुस्तकें लिखीं, जैसे – *हाऊ टू रिड्यूस*



बिल्डिंग कॉस्ट (सस्ते मकान कैसे बनाएँ), रबिश (कचरा) और *मड (मिट्टी)*। इन पुस्तकों के लिए उन्होंने खुद चित्र बनाए। उनकी अनेक पुस्तकों का कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उनकी बाद के वर्षों में लिखीं दो पुस्तकें, *रूरल कम्यूनिटी बिल्डिंग्स (ग्रामीण सामुदायिक इमारतें)* और *कॉस्ट रिडक्शन फॉर प्राइमरी स्कूल बिल्डिंग्स (कम कीमत की प्राथमिक शाला इमारतें)* का प्रकाशन बेकर की 80वीं वर्षगाँठ पर हुआ। बेकर द्वारा डिज़ाइन की गई दो उल्लेखनीय इमारतें हैं – तिरुवनन्तपुरम में विकास अध्ययन केन्द्र की इमारत और वहीं के बस स्टैण्ड के पास स्थित एक छोटा-सा कॉफी हाउज़।

चीज़ों का दुबारा इस्तेमाल करना बेकर की प्रकृति का अंग था। गुसलखाना बनाते समय वे काँच और टाइलों के टूटे टुकड़ों का उपयोग करते। वे कंकरीट की छत की ढलाई करते समय हर एक-दो फुट की दूरी पर सैकड़ों टूटी टाइलें धँसा देते। इस प्रकार टूटी हुई टाइलों के उपयोग से कंकरीट की ज़रूरत 30 प्रतिशत कम हो जाती है। वे चाहते थे कि उनकी बनाई इमारतें केरल के लहलहाते नारियल के पेड़ों की ऊँचाई से सदैव नीची रहें।

बेकर केवल एक वास्तुशिल्पी नहीं थे। उन्होंने ज़िन्दगी को पूर्ण रूपेण अंगीकार किया और समय-समय पर डॉक्टर, मिशनरी, माली, बावर्ची, किसान, पशु-चिकित्सक, एम्बुलेंस ड्राइवर, बढ़ई, राजमिस्त्री, कवि और व्यंग्य-चित्रकार की भूमिका निभाई।

बेकर को कई विश्वविद्यालयों ने डॉक्टरेट की डिग्री से अलंकृत किया। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें मेम्बर ऑफ द ब्रिटिश एम्पायर तथा ऑर्डर ऑफ द एम्पायर से सम्मानित किया। 1990 में संयुक्त राष्ट्र संघ का पहला हैबिटैट अवॉर्ड और यू.एन. रोल ऑफ ऑनर से लॉरी बेकर को सुशोभित किया गया। बेकर कई महत्वपूर्ण सरकारी समितियों के सदस्य भी रहे। 1990 में भारत सरकार ने उन्हें पद्‌मश्री से सम्मानित किया। परन्तु उनको सबसे अधिक खुशी तब हुई जब 1988 में उन्हें भारतीय नागरिकता मिली। बेकर और उनकी पत्नी एलिज़ाबेथ ने तीन बच्चों को गोद लिया - बेटा तिलक व बेटियाँ विद्या और हाइडी।



अपना खुद का मकान ‘हैमलेट’ बनाते हुए भी लॉरी बेकर ने वही सिद्धान्त इस्तेमाल किए जिनका प्रचार उन्होंने जीवन भर किया। सही मायने में उनका जीवन ही उनका सन्देश था। 1 अप्रैल 2007 को मूर्ख दिवस वाले दिन अपने घर पर ही बेकर ने प्राण त्यागे। उस वक्त उनकी उम्र 90 वर्ष थी। मृत्यु में भी उन्होंने अपने टीकाकारों को नहीं बख्शा। उनके घर का नाम था हैमलेट, और उसके निर्माता के रूप में उन्हें अपनी भूमिका या अस्मिता – होऊँ या न होऊँ – के बारे में कोई शक नहीं रहा था। अन्त में, हम शेक्सपियर द्वारा लिखे मार्क एंटनी के इस वाक्य का बेकर के अन्दाज़ में तर्जुमा कर सकते हैं: “यह था एक बेकर! दूसरा कब आता है मुड़कर?”





अन्ना मणि

(1918 - 2001)

जिन बहादुर महिलाओं को मैं जानती थी
वे अब बूढ़ी हो चली हैं।
उनमें से प्रत्येक एक वृक्ष या प्रकाश–स्तम्भ जैसी थी,
या फिर प्रकाश–स्तम्भ के इर्द–गिर्द मँडराती
समुद्री चील जैसी,
या फिर समुद्री चील के चहुँ ओर घूमती
डॉल्फिन मछली जैसी,
जो प्रकाश–स्तम्भ के चक्कर काटती है
जैसे मेरे विचार अपने–आप ही मँडरा रहे हैं।

— सुनीति नामजोशी द्वारा अन्ना मणि को श्रृद्धांजलि



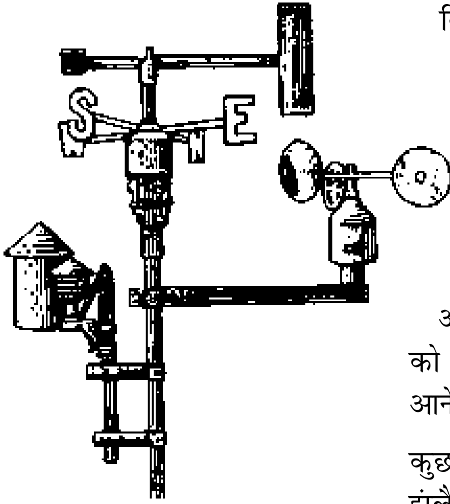
1950 के दशक में जब होमी भाभा देश में आण्विक ऊर्जा का ताना–बाना बुन रहे थे, उस समय अन्ना मणि की नारीवादी संवेदनाएँ सौर व पवन ऊर्जा की सम्भावनाएँ तलाश रही थीं। स्वतंत्र भारत में मणि ने मौसम विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्ना मोडियाल मणि का जन्म

1913 में जब अन्ना मणि का जन्म हुआ तब भारत में महिलाओं की साक्षरता दर एक प्रतिशत से भी कम थी। देश के सभी महाविद्यालयों में कुल मिलाकर 1,000 से भी कम छात्राएँ थीं। यहाँ तक कि 1930 में भी जब मणि कॉलेज में थीं, महिलाओं के लिए विज्ञान शिक्षण के बहुत कम अवसर थे। तब यह मान्यता थी कि महिलाओं की शिक्षा उन्हें सिर्फ एक अच्छी माँ और गृहणी बनाने के लिए ही होनी चाहिए।

23 अगस्त 1918 को केरल स्थित पीरमेडू में हुआ। उनके पिता इलायची के एक बड़े बाग के मालिक थे। सीरियाई ईसाई परिवार में पैदा होने के बावजूद वे अनीश्वरवादी थे। अन्ना को पुस्तकें पढ़ने का ज़बरदस्त चस्का था और 12 वर्ष की अल्पायु तक वे स्थानीय पुस्तकालय की सभी पुस्तकें पढ़ चुकी थीं। अपने आठवें जन्म-दिवस पर उन्होंने हीरे के कुण्डलों को नकारकर उन पैसों से *इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका* (*Encyclopaedia Britannica*) खरीदा। पुस्तकों ने अन्ना के लिए एक नई दुनिया खोल दी और किताबों से ही उन्होंने सामाजिक न्याय का सबक सीखा। 1925 में गाँधीजी उनके शहर में आए जिनका अन्ना पर गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी बहनों की तरह अन्ना ने जल्दी शादी करने की बजाय उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ठानी। सारी ज़िन्दगी अन्ना ने खादी ही पहनी।

वैसे तो अन्ना का इरादा डॉक्टर बनने का था परन्तु वे भौतिक विज्ञान में बहुत तेज़ थीं, इसलिए उन्होंने इसी विषय को चुना। उन्होंने मद्रास के प्रेसिडेंसी कॉलेज से भौतिक विज्ञान ऑनर्स की डिग्री प्राप्त की। कॉलेज के दिनों में समाजवादी विचारों के प्रति उनका रुझान बढ़ा। 1940 में उन्हें एक छात्रवृत्ति मिली जिसकी वजह से वे बैंगलोर स्थित भारतीय विज्ञान संस्थान में सी.वी. रामन के मार्गदर्शन में शोध कर पाईं। यहाँ उन्होंने हीरों और माणिक की वर्णक्रमिकी (spectroscopy) पर शोध किया। उन्हें उनकी प्रतिदीप्ति (fluorescence) और अवशोषण (absorption) के आँकड़ों को दर्ज करना होता था। इसके लिए उन्हें फोटोग्राफिक प्लेटों को 16-20 घण्टे तक प्रकाश में रखना पड़ता था। इसलिए वे अक्सर प्रयोगशाला में ही सो जाती थीं। अन्ना ने हीरों की सन्दीप्ति (luminescence) पर पाँच शोधपत्र



लिखे। 1945 में उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय को अपनी पीएच.डी. की थीसिस सौंपी। पर अन्ना ने एम.एससी. नहीं की थी इसलिए विश्वविद्यालय ने उन्हें पीएच.डी. की उपाधि प्रदान नहीं की। सौभाग्य से अन्ना मणि ने इस कागज़ी उपाधि को कभी भी अपने काम में आड़े आने नहीं दिया।

कुछ समय बाद अन्ना मणि को इंग्लैण्ड में उच्च शिक्षा के लिए एक सरकारी छात्रवृत्ति मिली। 1945 में एक सैनिक पोत में सवार होकर वे इंग्लैण्ड के इम्पीरियल कॉलेज में भौतिक विज्ञान सीखने गईं, परन्तु अन्त में उन्होंने मौसम-विज्ञान सम्बन्धी उपकरणों में विशेषज्ञता प्राप्त की। यहाँ उन्होंने मौसम सम्बन्धी उपकरणों, उनके अंशांकन (calibration) एवं मानकीकरण आदि की विस्तृत जानकारी हासिल की।

स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक सम्भावनाएँ खुलीं और अन्ना मणि ने इन चुनौतियों को स्वीकारा। 1948 में उन्होंने पुणे स्थित भारतीय मौसम विभाग के उपकरण खण्ड में काम शुरू किया। इस विभाग के प्रमुख एक दूरदर्शी और उत्साही व्यक्ति एस.पी. वेंकिटेश्वरन थे। 1947 से पहले मौसम विज्ञान सम्बन्धी सामान्य उपकरण, जैसे तापमापी और वायुदाबमापी भी विदेश से आयात होते थे। राष्ट्रवादी भावना से ओतप्रोत वेंकिटेश्वरन इन उपकरणों का निर्माण भारत में करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने एक उच्च कोटि की कार्यशाला स्थापित की जहाँ वर्षामापी, तापमापी, हवा की गति आदि मापने के उपकरण बन सकें। उन्होंने तापलेखी (thermograph) और



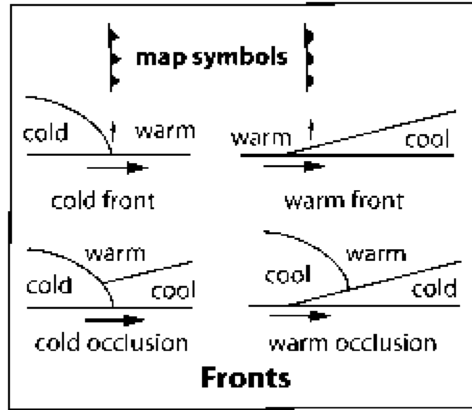
जललेखी (hydrograph) जैसे उपकरणों के विकास के लिए शोधकार्य भी आरम्भ किया। अन्ना मणि इस सबसे बहुत प्रेरित हुईं। वे कम–से–कम समय में मौसम–विज्ञान के उपकरणों के उत्पादन में देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए अपनी विशेषज्ञता का उपयोग करना चाहती थीं।

यह काम इतना आसान नहीं था क्योंकि देश में परिष्कृत मशीनें चलाने वाले कुशल व्यक्तियों की बेहद कमी थी। परन्तु जो भी उपलब्ध था उससे मणि ने काम आगे बढ़ाने की ठानी। उन्होंने अपने विभाग के 121 लोगों को गुणात्मक कार्य करने के लिए प्रेरित किया। उनका नारा था: "काम करने की उत्तम पद्धति ढूँढो।" उन्होंने मात्रा की बजाय गुणवत्ता पर बल दिया। इस काम में उन्हें बहुत श्रम करना पड़ा परन्तु जल्द ही मणि ने भारतीय वैज्ञानिकों और इंजीनियरों का एक ऐसा ठोस समूह तैयार किया जो इस कार्य को करने के लिए तैयार था।

अन्ना मणि ने 100 से अधिक मौसम सम्बन्धी उपकरणों के रेखाचित्रों का मानकीकरण किया और उनका उत्पादन शुरू किया। मणि की सौर ऊर्जा में गहरी रुचि थी जिसे वे भारत जैसे गर्म देश के लिए बहुत अनुकूल मानती थीं। परन्तु उस समय देश में सौर ऊर्जा सम्बन्धी भौगोलिक और मौसमी जानकारी की बहुत कमी थी। 1957–58 के "अन्तर्राष्ट्रीय भू–भौतिक वर्ष" (International Geophysical year) में मणि ने देश में सौर विकिरण मापने के केन्द्रों का जाल बिछाया। इसके लिए शुरू में विदेशी उपकरणों का उपयोग किया गया परन्तु जल्द ही मणि ने उन्हें देश में डिज़ाइन करने और बनाने की व्यवस्था की।



मणि का मानना था कि गलत नाप से तो नाप न लेना ही बेहतर है। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि हरेक उपकरण का डिज़ाइन बढ़िया हो और उनका अंशांकन ठीक हो। 1960 में उन्होंने ओज़ोन का अध्ययन शुरू किया। उस समय यह शब्द इतना प्रसिद्ध नहीं था। यह बात दो दशकों बाद ही पता चली कि ओज़ोन



पृथ्वी की जीव सम्पदा को घातक किरणों से कैसे सुरक्षित रखती है। मणि ने ओज़ोन नापने का एक उपकरण 'ओज़ोनसोंडे' (ozonesonde) विकसित किया। इस उपकरण की वजह से भारत ओज़ोन सम्बन्धित विश्वसनीय तथ्यात्मक आँकड़े एकत्र कर पाया। मणि के महत्वपूर्ण योगदान के कारण उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ओज़ोन आयोग (International Ozone Commission) का सदस्य मनोनीत किया गया।

1963 में विक्रम साराभाई के आग्रह पर मणि ने थुम्बा रॉकेट प्रक्षेपण स्थल पर मौसम की जानकारी एकत्रित करने के लिए एक वेधशाला और उपकरण मीनार (instrumentation tower) की स्थापना की। 1976 में अन्ना मणि भारतीय मौसम विभाग में उपमहानिदेशक के पद से सेवानिवृत्त हुईं। उसके बाद उन्होंने बैंगलोर के पास नन्दी हिल्स पर मिलीमीटर तरंग की एक दूरबीन स्थापित की। उनके द्वारा लिखी दो पुस्तकें – *हैंडबुक ऑफ सोलर रेडिएशन डेटा फॉर इण्डिया* (Handbook of Solar Radiation Data for India) (1980) और *सोलर रेडिएशन ओवर इण्डिया* (Solar Radiation over India) (1981) – अब सौर-ऊर्जा पर काम कर रहे इंजीनियरों के लिए मार्गदर्शक सन्दर्भ ग्रन्थ बन गई हैं। एक दूरदर्शी वैज्ञानिक होने के नाते उन्होंने भारत में पवन ऊर्जा की सम्भावनाओं को पहचाना और 700 स्थानों पर उत्कृष्ट उपकरणों की मदद से पवन सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित किए। अगर आज भारत पवन ऊर्जा के क्षेत्र में छलाँग लगा रहा है तो इसका काफी श्रेय अन्ना मणि को जाता है।

कई सालों तक अन्ना मणि बैंगलोर में हवा की गति और सौर-ऊर्जा नापने के उपकरण बनाने वाली एक छोटी निजी कम्पनी की प्रमुख रहीं। उन्होंने

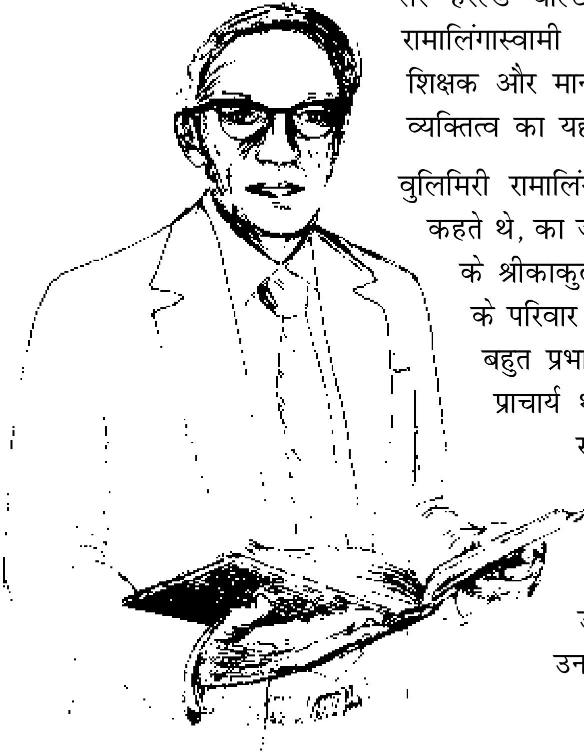
विवाह नहीं किया। उन्हें प्रकृति से बहुत लगाव था। पहाड़ों पर घूमना और पक्षी अवलोकन उनके शौक थे। वे कई शैक्षणिक संस्थाओं की सदस्य थीं, जैसे भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, अमेरिकन मीटिरॅलॉजिकल सोसाइटी (American Meteorological Society) और इंटरनेशनल सोलर एनर्जी सोसाइटी (International Solar Energy Society)। 1987 में उन्हें भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी द्वारा के.आर. रामनाथन पदक से सम्मानित किया गया। 1994 में उन्हें पक्षाघात हुआ, जिसके बाद वे पलंग से नहीं उठ पाईं। 16 अगस्त 2001 में तिरुवनन्तपुरम में उनका देहान्त हो गया।



वी. रामालिंगास्वामी

(1921 - 2001)

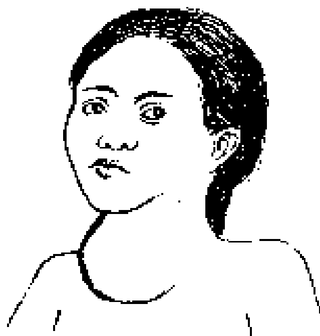
प्रोफेसर वुलिमिरी रामालिंगास्वामी को सुप्रसिद्ध लीओन बर्नार्ड फाउंडेशन पुरस्कार से सम्मानित करते हुए 1976 में विश्व स्वास्थ्य सभा के अध्यक्ष सर हैरल्ड वॉल्टर ने उनकी प्रशंसा में कहा कि रामालिंगास्वामी "एक चिकित्सक, शोध-वैज्ञानिक, शिक्षक और मानववादी व्यक्ति हैं।" उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का यह बिल्कुल सही चित्रण था।



वुलिमिरी रामालिंगास्वामी, जिन्हें उनके मित्र 'रामा' कहते थे, का जन्म 8 अगस्त 1921 को आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम में हुआ। उनका जन्म शिक्षाविदों के परिवार में हुआ था और वे अपने दादाजी से बहुत प्रभावित थे। दादाजी स्थानीय स्कूल के प्राचार्य थे और शेक्सपीयर में उनकी गहरी रुचि थी। रामा खुद एक अच्छे अभिनेता थे और उन्होंने महाविद्यालय में शेक्सपीयर के कई पात्रों की भूमिका निभाई थी। अपने अच्छे गायन से उन्होंने कई महफिलों में रंग जमाया। उनका अँग्रेज़ी का उच्चारण उत्कृष्ट था

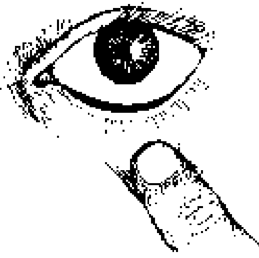
और उनके भाषण अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिहाज़ से सुनने लायक होते थे।

1944 में रामा ने आन्ध्र प्रदेश से अपनी पहली मेडिकल डिग्री हासिल की और 1946 में उसी विश्वविद्यालय से एम.डी. की डिग्री प्राप्त की। फिर वे इंग्लैण्ड में ऑक्सफोर्ड चले गए जहाँ से 1951 में उन्हें डी.फिल. की डिग्री मिली। वहीं से 1967 में उन्होंने डी.एससी. की डिग्री हासिल की। उन्होंने 1947 में न्यूट्रिशन रिसर्च लैबोरेटरी, कुन्नूर (अब राष्ट्रीय पोषण संस्थान, हैदराबाद) से अपना शोधकार्य आरम्भ किया जो अगले छह दशकों तक जारी रहा।

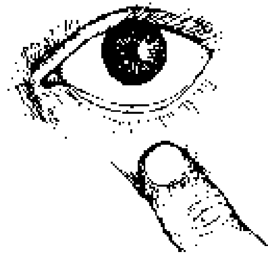


रामा गरीब देशों में बीमारियों के कारणों को समझना और शोध द्वारा उनके उपचार खोजना चाहते थे। शोध के उनके इस मानवीय तरीके में प्रयोगशाला, अस्पताल और समुदाय तीनों का समन्वय था। प्रोटीन-ऊर्जा कुपोषण, आयोडीन के अभाव से होने वाले रोग, कुपोषण जनित रक्तक्षीणता और गर्म देशों में यकृत की बीमारी आदि विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने मौलिक शोधकार्य किया। देश के विकास के लिए प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा, संक्रामक रोगों और स्वास्थ्य अनुसन्धान में रामा की गहरी रुचि थी। उनकी व्यक्तिगत निष्ठा और नेतृत्व क्षमता के कारण 1967 के बिहार अकाल और 1971 के बांग्लादेश युद्ध के दौरान हज़ारों-लाखों शरणार्थी कुपोषण के अभिशाप से बच पाए।

घेंघा रोग (गलग्रन्थि की समस्याओं के कारण गला फूलना) के अत्यधिक प्रसार के कारण रामा ने सामुदायिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक उत्कृष्ट प्रयोग किया। इसके अन्तर्गत काँगड़ा पहाड़ियों में रहने वाले एक लाख से अधिक लोगों द्वारा आयोडीनयुक्त नमक खाने से इस बीमारी में भारी कमी आई। इस शोधकार्य ने 'राष्ट्रीय आयोडीन अभाव नियंत्रण कार्यक्रम' की नींव रखी जिससे 30 करोड़ से ज़्यादा लोगों का इस रोग से बचाव हुआ।



अन्दर स्वस्थ लाल रक्त होने के कारण सामान्यतः हमारी आँखों की निचली पलक का अन्दरूनी भाग लाल और हमारे नाखून गुलाबी होते हैं।



रक्त में लौहतत्व की कमी से रक्ताल्पता होती है। इससे हमारी आँखों की निचली पलक का अन्दरूनी भाग पीला पड़ जाता है और हमारे नाखून सफेद।

रामालिंगास्वामी ने गर्भवती महिलाओं के आहार में लौहतत्व की कमी को पूरा करने के लिए सफलतापूर्वक लौह–पूरकों के उपयोग की शुरुआत की। इस अकेले कदम से समूचे विश्व की महिलाओं और बच्चों के स्वास्थ्य में उल्लेखनीय सुधार आया।

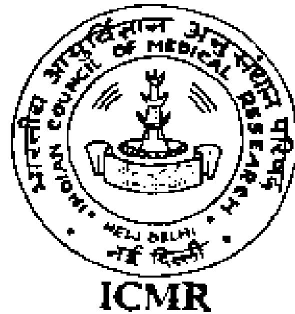
रामालिंगास्वामी ने एक नई और महत्वपूर्ण खोज की – यकृत की एक बीमारी जो 'इण्डियन चाइल्डहुड सिरौसिस' (Indian Childhood Cirrhosis) के नाम से जानी जाती है।

विटामिन–ए की कमी से रतौन्धी होती है, यह तथ्य तो बहुत पहले से मालूम था। रामालिंगास्वामी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस विषय पर गम्भीर अध्ययन किया और इसकी पुष्टि की। उन्होंने मादा बन्दरों में विटामिन–ए की कमी से उनके बच्चों के रेटिना की छड़ (rod) और शंकु (cone) कोशिकाओं को हुए नुकसान का अध्ययन किया।



अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान की स्थापना के समय अच्छे शिक्षकों की ज़ोरदार तलाश हुई। तभी रामालिंगास्वामी विकृतिविज्ञान (pathology) विभाग में प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। जल्द ही वे विभाग प्रमुख बने और उन्होंने एक उच्च दर्जे

का विकृतिविज्ञान केन्द्र स्थापित किया। उन्होंने अनेक प्रतिभावान छात्रों को प्रेरित किया और इन छात्रों ने उनके नाम और शोहरत को दुनिया के कोने–कोने में पहुँचाया।



अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में अपने कार्यकाल के दौरान रामालिंगास्वामी ने भारत और पश्चिम के प्रमुख विकृतिविज्ञानियों के बीच संवाद स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इस सूची में विश्व के जाने–माने विकृतिविज्ञानी शामिल थे। हार्वर्ड के डॉ. बेंजामिन कैसलमैन और डॉ. वॉल्टर पुश्चर, मोंटीफिओरे अस्पताल के डॉ. हैंस पॉपर, रॉयल फ्री अस्पताल की डॉ. शीला शर्लाक और अन्य दिग्गज डॉक्टरों ने विकृतिविज्ञान के विभिन्न पक्षों पर अग्रगामी व्याख्यान दिए। बाद में रामालिंगास्वामी अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के निदेशक बने और इस काम को भी उन्होंने बखूबी अंजाम दिया, जिसके लिए उन्हें शिक्षक वर्ग एवं सरकार, दोनों की शाबाशी मिली।

भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद को स्थापित करने में रामालिंगास्वामी ने अहम भूमिका निभाई और 1979 में वे इसके महानिदेशक बने। इस संस्था में उन्होंने सात साल काम किया और इस दौरान उन्होंने इसकी गतिविधियों को कई दिशाओं में आगे बढ़ाया। नई संस्थाएँ स्थापित करने के साथ–साथ उन्होंने क्षेत्रीय चिकित्सा अनुसन्धान केन्द्रों की अवधारणा स्थापित की जिससे विशिष्ट एवं दूर–दराज़ के क्षेत्रों की स्थानीय बीमारियों पर शोधकार्य हो सके। उन्होंने भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद का पुनर्गठन किया और समकक्ष विद्वानों से हर शोध कार्यक्रम की सख्त समीक्षा करने के आदेश दिए। उनके द्वारा स्थापित तौर–तरीकों से बहुत लाभ हुआ और वे तरीके आज भी उपयोग में लाए जा रहे हैं।

एक अच्छे चिकित्सक की हैसियत से रामालिंगास्वामी ने देश में महामारियों पर शोध की ज़रूरत को महसूस किया। उन्होंने हर रोग को दर्ज और लिपिबद्ध करने पर ज़ोर दिया और भारतीय बीमारियों का पंजीयनालय



रामालिंगास्वामी ने विश्व की सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना – भोपाल गैस काण्ड – की जाँच-पड़ताल की। यूनियन कार्बाइड (अब डाउ केमिकल्स) की उपेक्षा से हज़ारों लोगों की जानें गईं और हज़ारों लोग बीमार हुए।

(Indian Registry of Diseases) की स्थापना की जिसमें आँकड़ों के विश्लेषण के लिए एक सांख्यिकी विभाग का प्रावधान भी था। इसी की बदौलत बाद में भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद में एक स्वतंत्र सांख्यिकी विभाग स्थापित हुआ।

राष्ट्रीय आपदा और आपातकालीन स्थितियों में अपनी सेवाएँ समर्पित करने को रामालिंगास्वामी सदैव तत्पर रहते थे। भोपाल गैस काण्ड इसकी एक मिसाल है। इस आपदा से निबटने और गैस काण्ड की वैज्ञानिक जानकारी एकत्रित करने के लिए उन्होंने तमाम संस्थागत और मानवीय संसाधन जुटाए। सूरत शहर में हैज़े के दौरान भी उन्होंने सक्रिय सहायता की।

सेवानिवृत्ति के बाद भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ रामालिंगास्वामी की सेवाओं से लाभान्वित होती रहीं। उन्हें हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने प्रारम्भ में फोगर्टी फैलो (Fogarty Fellow) और बाद में विष-विज्ञान के विशिष्ट प्राध्यापक के रूप में आमंत्रित किया। उसके बाद उन्होंने पाँच वर्ष यूनिसेफ (UNICEF) के साथ काम किया। वे राष्ट्रीय स्तर की कई संस्थाओं के साथ लगातार जुड़े रहे जिनमें राजीव गाँधी फाउंडेशन, कैंसर शोध संस्थान, विज्ञान एवं पर्यावरण केन्द्र (सेंटर फॉर साइंस एंड इन्वायरनमेंट) तथा रॅनबॅक्सी फाउंडेशन उल्लेखनीय हैं। अपने जीवन के अन्तिम दिन, 8 मई 2001, तक वे नई दिल्ली स्थित अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में राष्ट्रीय प्राध्यापक की हैसियत से काम करते रहे।

रामालिंगास्वामी भारतीय चिकित्सा वैज्ञानिकों में सबसे अधिक सम्मानित व्यक्तियों में से थे। उन्हें शान्तिस्वरूप भटनागर और पद्म भूषण पुरस्कारों

से अलंकृत किया गया था। वे रॉयल सोसाइटी के फैलो और भारत की तीनों विज्ञान अकादमियों के सदस्य थे। 1979–80 के दौरान वे भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष थे। वे राष्ट्रीय चिकित्सा विज्ञान अकादमी तथा अमरीकी और रूसी विज्ञान अकादमियों के सदस्य तो थे ही, साथ में वे रॉयल कॉलेज ऑफ फिज़ीशियंस एंड सर्जन्स के भी फैलो थे। स्वीडन के कारोलिंस्का संस्थान ने उन्हें डॉक्टरेट की उपाधि से सुशोभित किया। वे विश्व स्वास्थ्य संगठन की चिकित्सा शोध पर ग्लोबल समिति (Global Advisory Committee on Medical Research) के अध्यक्ष भी थे।

रामालिंगास्वामी ने सुखी पारिवारिक जीवन बिताया। उनकी पत्नी सूर्य प्रभा नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सामाजिक चिकित्सा शास्त्र और सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र में प्राध्यापक के पद से सेवानिवृत्त हुईं। उनके बेटे वी. जगदीश वर्तमान में अमरीका के मेरीलैंड में एक स्वयंसेवी संस्था एड्स के विरुद्ध दक्षिण एशिया (South Asia Against AIDS) के अध्यक्ष हैं और उनकी बेटी लक्ष्मी न्यू यॉर्क के माउंट सिनाई अस्पताल में काम करती हैं।



जी.एन. रामचन्द्रन
(1922 - 2001)

"अगर आपको लगता है कि आप जानते हैं तो आप सचमुच में नहीं जानते हैं, और अगर आप जानते हैं कि आप किसी चीज़ को नहीं जान सकते, तब आप उसे जानते हैं।"

– जी.एन. रामचन्द्रन

जी.एन. रामचन्द्रन (यहाँ 'जी' उनके पैतृक शहर गोपालसमुद्रम और 'एन' उनके पिता के नाम नारायण अय्यर के प्रथमाक्षर हैं) 20वीं शताब्दी में भारत के सबसे प्रखर वैज्ञानिकों में से थे। उन्होंने अपने शोधकार्य से पूरी दुनिया में भारत का नाम रोशन किया। रामचन्द्रन ने अपना अधिकांश शोधकार्य भारत में ही किया और प्रसिद्ध वैज्ञानिक सी.वी. रामन उनके आदर्श थे। रामचन्द्रन ने आण्विक जैव–भौतिकी (molecular biophysics), विशेषकर प्रोटीन की संरचना को लेकर महत्वपूर्ण शोध किया। रामचन्द्रन ने स्थापित किया कि मज्जा (collagen) की संरचना *तिहरी कुण्डलीदार (triple helical)* होती

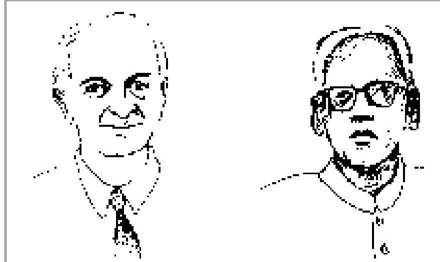


है। इस बुनियादी खोज के कारण ही हम अमीनो अम्लों (amino acids) के पेप्टाइड (peptide) नामक यौगिकों को गहराई से समझ सके (कई पेप्टाइड मिलकर प्रोटीन बनाते हैं)।

रामचन्द्रन का जन्म 8 अक्तूबर 1922 को कोचीन के पास दक्षिणी-पश्चिम तट पर स्थित एक छोटे शहर में हुआ। उनके पिता एक स्थानीय महाविद्यालय में गणित के प्राध्यापक थे और उन्होंने राम के मन में बचपन से ही गणित के प्रति प्रेम के बीज बोए। वे अपने महाविद्यालय के पुस्तकालय से गणित की किताबें लाते और रोज़ रामचन्द्रन को प्रमेय हल करने के लिए प्रेरित करते। वे गणित के समीकरण लिखते और राम से उन्हें हल करने को कहते। इसलिए राम बचपन से ही उच्च गणित में पारंगत हो गए थे। आश्चर्य की बात नहीं कि वे हरेक परीक्षा में गणित में 100 प्रतिशत अंक पाते थे। 1942 में रामचन्द्रन ने मद्रास विश्वविद्यालय से बी.एससी. में समूचे विश्वविद्यालय में शीर्ष स्थान प्राप्त किया। सेंट जोसेफ कॉलेज के दो शिक्षकों पी.ई. सुब्रह्मण्यम और कॅथोलिक पादरी फादर राजम ने रामचन्द्रन की रुचि भौतिक विज्ञान में जागृत की।

रामचन्द्रन के पिता चाहते थे कि वे भारतीय प्रशासनिक सेवा में जाएँ, पर रामचन्द्रन की इसमें रुचि नहीं थी। बाद में रेलवे इंजीनियरिंग बोर्ड की परीक्षा के लिए रामचन्द्रन को दिल्ली भेजा गया। रामचन्द्रन ने जानबूझकर इस परीक्षा में गलतियाँ कीं और अनुत्तीर्ण हुए। 1942 में रामचन्द्रन ने बैंगलोर स्थित भारतीय विज्ञान संस्थान के इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग विभाग में स्नातकोत्तर कार्यक्रम में दाखिला लिया। परन्तु कुछ ही समय बाद सी. वी. रामन उन्हें भौतिक विज्ञान विभाग में ले आए। एक सप्ताह बाद रामन ने रामचन्द्रन को लॉर्ड रैले द्वारा सुझाई एक महत्वपूर्ण समस्या का हल खोजने को कहा। एक ही दिन में रामचन्द्रन ने इस समस्या का गणितीय समीकरण लिखा और उसका हल ढूँढ निकाला। इससे रामन बेहद प्रसन्न हुए। रामन के मार्गदर्शन में रामचन्द्रन ने प्रकाश विज्ञान (optics) और क्ष-किरण स्थल-निरूपण (X-ray topography) के क्षेत्र में स्नातकोत्तर शोधकार्य किया। रामन अपने इस प्रखर छात्र के करिश्मों से फूले नहीं समाए।

1947 में रामचन्द्रन इंग्लैण्ड की कैवेंडिश प्रयोगशाला में शोधकार्य करने गए। इस प्रयोगशाला के प्रमुख लॉरेंस ब्रैग थे। केम्ब्रिज में उन्होंने डब्लू.ए. वूस्टर और एच. लैंग के साथ स्फटिकी (crystallography) पर काम किया। यहाँ उन्होंने क्ष-किरणों के परावर्तन के विकीर्ण को नापकर स्फटिकों के प्रत्यास्थ स्थिरांक (elastic constants) मापने का एक गणितीय सिद्धान्त भी विकसित किया। 1949 में रामचन्द्रन को केम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने पीएच.डी. प्रदान की। केम्ब्रिज में ही रामचन्द्रन की भेंट प्रसिद्ध वैज्ञानिक लाइनस पॉलिंग से हुई। वे पेप्टाइड शृंखलाओं के प्रतिरूपण अध्ययन पर पॉलिंग के व्याख्यानों से अत्यन्त प्रभावित हुए (देखें बॉक्स)।

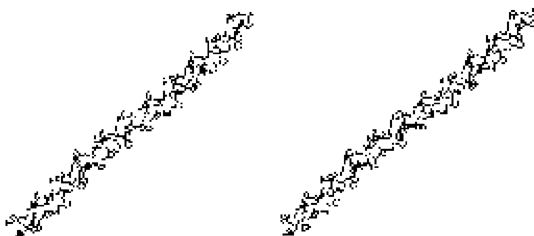


लाइनस पॉलिंग
एक जादुई नाम है
रासायनिक बन्ध के सम्बन्ध में
और सभी पदार्थों की
चाहे वे जीवित हों या मृत
प्रकृति और गुण जानने के लिए
और उनका व्यवहार पहचानने के लिए।
उनके महान अल्फा हेलिक्स ने
खोले नए आयाम
सभी जैवबहुलक पदार्थों की
संरचना खोजने के लिए।
यह महान ध्रुव-तारा
विज्ञान के आकाश पर दमकेगा
क्योंकि उसने जीवशास्त्रियों के लिए
खोलीं हैं नई राहें, नए पथ!

1949 में इंग्लैण्ड से लौटने के बाद रामचन्द्रन ने 1952 तक भौतिक विज्ञान का अध्यापन किया। उसी समय मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति और दूरदर्शी शिक्षाविद् एल.एल. मुदलियार अपने विश्वविद्यालय में प्रायोगिक भौतिकी विभाग खोलना चाहते थे जिसके लिए उन्होंने सी.वी. रामन को आमंत्रित किया। रामन ने उस पद के लिए रामचन्द्रन की सिफारिश की। परिणामस्वरूप 1952 में मात्र 29 वर्ष की आयु में रामचन्द्रन मद्रास विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के पद पर आसीन हुए। मुदलियार की

उदार सहायता से रामचन्द्रन मद्रास विश्वविद्यालय में क्ष–किरण स्फटिकी (X-ray crystallography) की एक विश्वस्तरीय प्रयोगशाला स्थापित करने में सफल हुए।

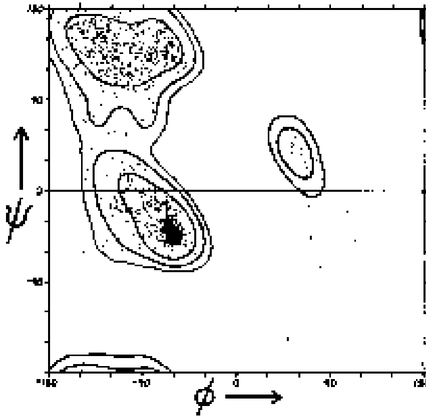
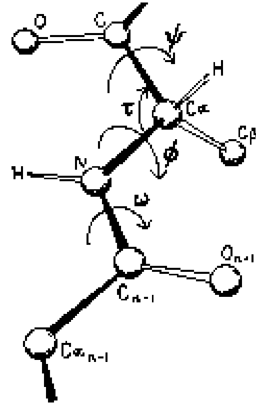
रामचन्द्रन मज्जा की संरचना खोजने के कार्य में जुट गए। मज्जा बहुतायत में पाया जाने वाला एक प्रोटीन ऊतक होता है। उन्होंने कंगारू की पूँछ की शिरा से मज्जा के नमूने इस्तेमाल किए। इस कार्य में उनके छात्र गोपीनाथ कर्था ने उनकी सहायता की। बहुत श्रम के बाद वे मज्जा के तन्तुओं के क्ष–किरण विवर्तन के प्रतिरूप पाने में सफल हुए। अपने प्रयोग के आधार पर उन्होंने गेंदों और सींकों से मज्जा के प्रतिरूप की संरचना तैयार की। 1954 में उनका यह शोध *नेचर (Nature)* नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रिका में छपा। बाद में उन्होंने इस प्रतिरूप को संशोधित कर एक नई और मशहूर 'कुण्डलित कुण्डल संरचना' (coiled coil structure) बनाई।



यह मज्जा के मेरुदण्ड की आण्विक संरचना का त्रिविम दृश्य (stereo view) है। यदि देखते हुए आपकी आँखें उसमें से पार जा सकें तो आप वह त्रि–आयामी संरचना देख सकेंगे। आप पॉलीपेप्टाइडों (polypeptides) के तीन तन्तु देख सकते हैं जो कुण्डली बनाते हुए एक–दूसरे में गुँथे हुए हैं।

रामचन्द्रन और उनके साथियों ने पॉलीपेप्टाइड श्रृंखलाओं के विश्लेषण की नींव रखी। उन्होंने एक द्वि–आयामी नक्शे की अवधारणा रखी जो आज जैव–रासायनिक साहित्य में रामचन्द्रन–प्लॉट (Ramachandran plot) के नाम से विख्यात है। इसके द्वारा पॉलीपेप्टाइड की सभी सम्भावित संरचनाओं को समझा जा सकता है। इन खोजों का त्रिविम–रसायन विज्ञान (stereo-chemistry) और संरचनात्मक जीव विज्ञान जैसे विषयों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

1970 में मद्रास विश्वविद्यालय से इस्तीफा देने के पश्चात् रामचन्द्रन ने दो

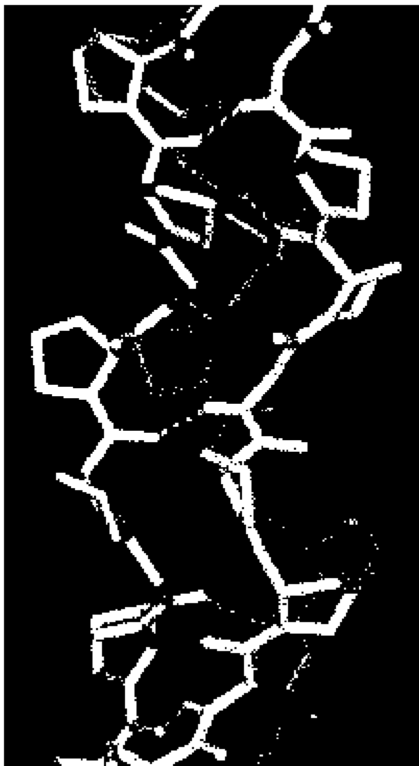



रामचन्द्रन प्लॉट (बाएँ) पेप्टाइड के ऐंठन के कोणों का वितरण दर्शाता है (दाएँ) जो प्रोटीनों की त्रिआयामी संरचना का निर्धारण करता है।

वर्ष शिकागो विश्वविद्यालय के जैव–भौतिकी विभाग में अतिथि प्राध्यापक के रूप में बिताए। दो साल के इस प्रवास में उन्होंने द्वि–आयामी आँकड़ों से त्रि–आयामी चित्र रचने की नई विधि का आविष्कार किया जो बाद में कम्प्यूटर टोमोग्राफी (फाँकचित्र) का आधार बनी। शिकागो से लौटने के बाद रामचन्द्रन ने भारतीय विज्ञान संस्थान में आण्विक जैव–भौतिकी इकाई स्थापित की। 1977 में उन्होंने फोगर्टी स्कॉलर (Fogarty Scholar) की हैसियत से मेरीलैंड (अमरिका) में बेथेस्डा स्थित नेशनल इंस्टिट्यूट फॉर हेल्थ (National Institute for Health) में काम किया। उसी वर्ष उन्हें लन्दन की रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। 1978 में वे आण्विक जैव–भौतिकी इकाई से सेवानिवृत्त हुए। उसके बाद भी वे भारतीय विज्ञान संस्थान में 1989 तक गणितीय दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक के रूप में काम करते रहे।

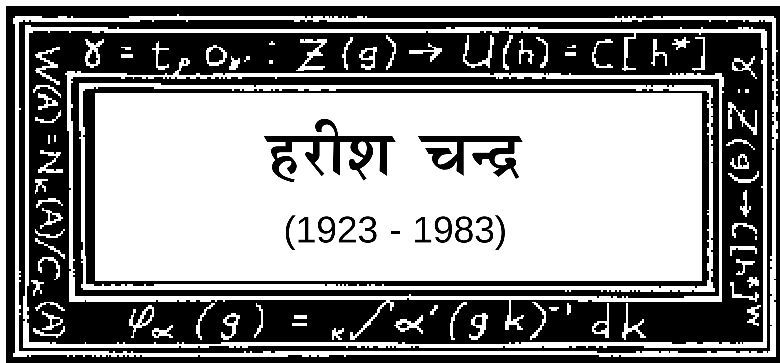
1980 के दशक के प्रारम्भ से वे पार्किंसन रोग से पीड़ित रहने लगे। उनकी पत्नी राजम – जिनसे 1945 में उनकी शादी हुई थी – ने बीमारी के दौरान उनकी समुचित सेवा की। 1998 में दिल के दौरे से राजम की आकस्मिक मृत्यु हो गई। यह रामचन्द्रन के लिए एक गहरा सदमा था जिससे वे कभी नहीं उबर सके। 1999 में इंटरनेशनल यूनियन ऑफ क्रिस्टलोग्राफर्स

(International Union of Crystallographers) ने रामचन्द्रन के उत्कृष्ट योगदान के लिए उन्हें पाँचवें इवाल्ड पुरस्कार से सम्मानित किया। 1999 में उन्हें दिल का दौरा पड़ा जिसके बाद से अपनी मृत्यु (7 अप्रैल 2001) तक वे अस्पताल में ही रहे। उनके दो पुत्र हैं – रमेश नारायण जो हार्वर्ड विश्वविद्यालय में खगोलशास्त्र के प्राध्यापक हैं और हरि जो प्लाज़्मा अनुसन्धान संस्थान, गाँधीनगर में कार्यरत हैं। उनकी बेटी विजया टेक्सास विश्वविद्यालय में कम्प्यूटर साइंस की प्राध्यापक हैं।



रामचन्द्रन तमाम कुशलताओं और प्रतिभाओं से सम्पन्न थे। भारतीय और पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में भी उनकी गहरी रुचि थी। अपने सम्पूर्ण वयस्क जीवन में वे गम्भीर मानसिक बीमारियों से ग्रस्त रहे। परन्तु उससे उनकी वैज्ञानिक सृजनात्मकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। रामचन्द्रन असली मायनों में नोबल पुरस्कार पाने के योग्य वैज्ञानिक थे किन्तु हैरानी की बात है कि भारत सरकार ने उन्हें कोई सम्मान प्रदान नहीं किया। क्योंकि मज्जा चमड़े का एक अभिन्न अंग है, इसलिए चेन्नई स्थित केन्द्रीय चमड़ा अनुसन्धान संस्थान ने अपने बड़े सभागृह का नाम ट्रिपल-हैलिक्स (Triple Helix) रखा, जो रामचन्द्रन द्वारा खोजी गई मज्जा-संरचना का नाम है। यह खोज उन्होंने 1954 में की थी।

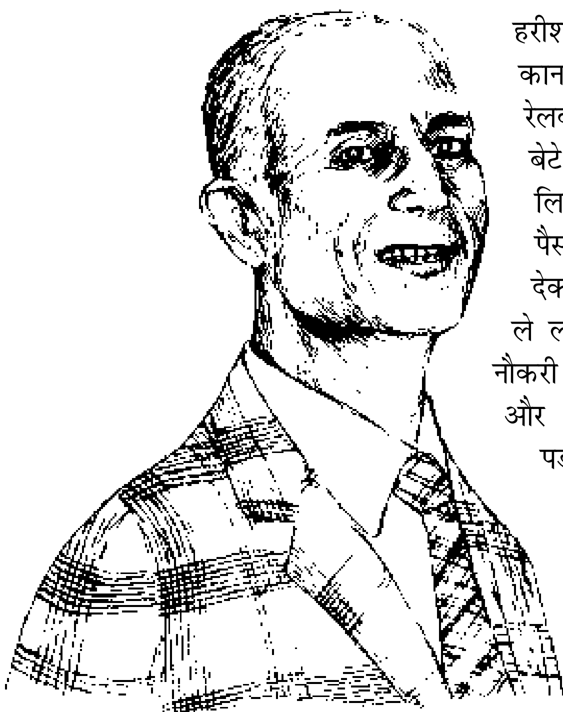




हरीश चन्द्र

(1923 - 1983)

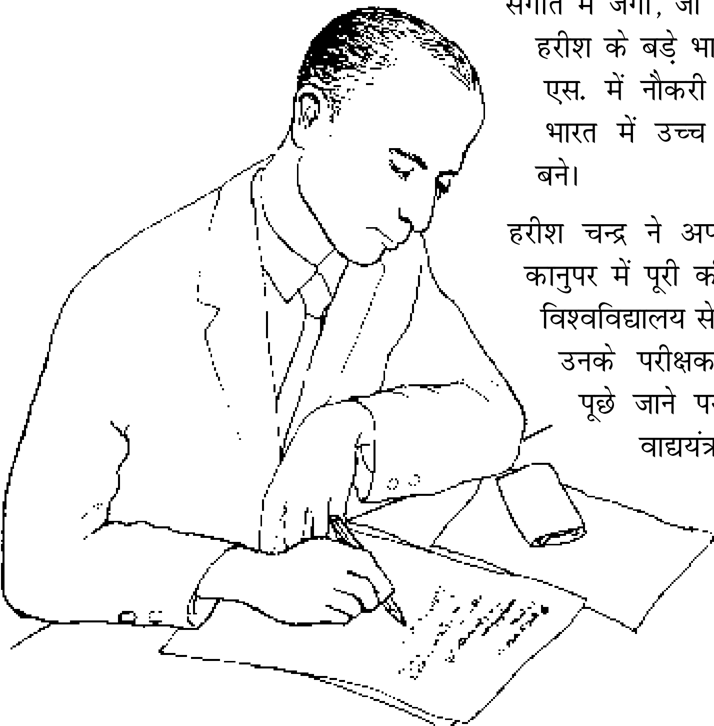
हरीश चन्द्र अपनी पीढ़ी के एक विशिष्ठ गणितज्ञ थे। उन्होंने गणित की एक शाखा 'रिप्रेज़ेंटेशन थ्योरी' (representation theory) प्रतिरूपणात्मक सिद्धान्त) पर शोध किया और उसे हाशिए से उठाकर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा में बदल दिया। इसके बाद यह शाखा सम-सामयिक गणित में केन्द्रीय महत्व की शाखा बन गई।



हरीश का जन्म 11 अक्तूबर 1923 को कानपुर में हुआ। उनके दादाजी अजमेर में रेलवे के एक वरिष्ठ क्लर्क थे। वे अपने बेटे चन्द्रकिशोर को अच्छी शिक्षा देने के लिए कटिबद्ध थे। बेटे की शिक्षा के लिए पैसों की खातिर उन्होंने नौकरी से इस्तीफा देकर अपनी पेंशन आदि की रकम इकट्ठा ले ली। उसके बाद उन्होंने दुबारा रेलवे में नौकरी की। इससे उनकी वरिष्ठता जाती रही और उन्हें निचले स्तर पर नौकरी करनी पड़ी। हरीश के पिता चन्द्रकिशोर का दाखिला देश के सर्वश्रेष्ठ महाविद्यालय, थॉमसन इंजीनियरिंग कॉलेज, रुड़की

में हुआ। वह भारत का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज था जो लोक निर्माण विभाग के लिए सिविल इंजीनियर तैयार करने के लिए शुरू किया गया था। धीरे–धीरे चन्द्रकिशोर बहुत ऊँचे ओहदे पर पहुँचे और अन्त में उत्तर प्रदेश के सिंचाई विभाग के कार्यकारी–इंजीनियर के पद से रिटायर हुए। हरीश अक्सर अपने पिता के साथ दूर–दराज़ बनी नहरों को देखने जाया करते थे।

हरीश की माँ सत्यगति सेठ एक ज़मींदार परिवार की थीं। उनके परिवार ने कभी 1857 के केन्द्रिय व्यक्तित्व – झाँसी की रानी – को अपने घर में पनाह दी थी। कृतज्ञता के रूप में झाँसी की रानी ने उन्हें अपनी तलवार भेंट की थी। इस भेंट को उनके परिवार ने पैतृक सम्पत्ति के रूप में बहुत आदर–सम्मान के साथ सँजोकर रखा। हरीश ने अपने बचपन का ज़्यादातर समय अपने नाना के घर पर ही बिताया। वे पढ़ाई में कुशाग्र थे परन्तु अक्सर बीमार रहते थे। वे कमज़ोर थे इसलिए उनकी कक्षा के लड़के हमेशा उनका मज़ाक उड़ाते थे। नाना के घर में हरीश की रुचि शास्त्रीय संगीत में जगी, जो जीवन भर बनी रही। हरीश के बड़े भाई सतीश ने आई.सी.एस. में नौकरी की और वे स्वतंत्र भारत में उच्च स्तर के नौकरशाह बने।



हरीश चन्द्र ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा कानुपर में पूरी की। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.एससी. की जहाँ उनके परीक्षक सी.वी. रामन थे। पूछे जाने पर चन्द्र ने तुरन्त ही वाद्ययंत्र मृदंग के कम्पन के सिद्धान्त की समस्या हल की जिससे रामन अत्यन्त प्रभावित हुए और

उन्होंने चन्द्र को 100 प्रतिशत अंक दिए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में के.एस. कृष्णन ने चन्द्र को हर तरह से प्रोत्साहित किया और उनके नाम की सिफारिश की। इससे चन्द्र भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर में होमी भाभा के मार्गदर्शन में काम करने गए। उस समय वहाँ सी.वी. रामन की शोहरत बुलन्दी पर थी, इसलिए आश्चर्य नहीं कि चन्द्र ने गणित की बजाय भौतिक विज्ञान ही पढ़ना उचित समझा। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में चन्द्र को श्रीमती एच. काले फ्रांसीसी भाषा सिखाती थीं। इसके बाद वे भारतीय विज्ञान संस्थान की लाइब्रेरियन बन गई थीं। इसलिए चन्द्र बैंगलोर में उन्हीं के साथ रहे। बाद में चन्द्र की शादी श्रीमती काले की बेटी ललिता के साथ हुई।

होमी भाभा ने चन्द्र की प्रतिभा पहचानी और उन्हें इंग्लैण्ड में प्रोफेसर डिराक के साथ काम करने के लिए भेजा। 1945 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में डिराक के छात्र के रूप में काम करते हुए चन्द्र ने अपनी सच्ची रुचि पहचानी और वे भौतिक विज्ञान छोड़कर गणित में शोधकार्य करने लगे। केम्ब्रिज में पढ़ाई के दौरान उन्होंने वॉल्फगैंग पाओली के व्याख्यान सुने और एक व्याख्यान के दौरान पाओली की एक गलती बताई। इसके बाद पाओली और चन्द्र की जीवन भर के लिए मित्रता हो गई। 1947 में चन्द्र को पीएच.डी. मिली। उनके शोध का विषय था "इनफाइनाइट इर्रिड्यूसेबल रिप्रेज़ेंटेशंस ऑफ द लॉरेंट्स ग्रुप" (लॉरेंट्स ग्रुप के अपरिमित अखण्डनीय प्रतिरूपण)। उसी साल चन्द्र अमरीका चले गए। इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़, प्रिंसटन में आते ही चन्द्र अत्यन्त तेज़ गति से काम में जुट गए। उन्होंने काम के वे मानक स्थापित किए जिनकी लोग वाहवाही तो कर सकते थे परन्तु उन पर अमल करना मुश्किल था। जब डिराक प्रिंसटन आए तो चन्द्र ने उनके सहायक के रूप में काम किया।

चन्द्र दो गणितज्ञों से बहुत प्रभावित थे – हरमन वेअल और क्लॉड शेवेली। उन्होंने 1950 से 1963 तक 13 वर्ष कोलंबिया विश्वविद्यालय में गणित में शोधकार्य किया, जिसमें उन्होंने 'इंडक्टिव लॉजिक' (आगमिक तर्क) का उपयोग किया। चन्द्र ने प्रसिद्ध गणितज्ञ अरमांड बोरेल के साथ मिलकर संख्यात्मक समूहों (arithmetic groups) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

1968 से 1983 तक मृत्युपर्यन्त, वे इंस्टिट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़, प्रिंसटन के गणित विभाग में आई.बी.एम. वॉन नौयमैन प्रोफेसर रहे।

चन्द्र ज़रा भी कागज़ को बेकार नहीं जाने देते थे और अपनी पाण्डुलिपियों के पिछले पन्नों पर अपना कच्चा काम करते थे। उनके व्याख्यानों की, जिन्हें वे पाठ्यक्रम के रूप में पढ़ाते थे, ज़बरदस्त माँग रहती थी। उनके व्याख्यानों से एक गणितज्ञ की सोच और संघर्षों की अनुभूति मिलती थी। चन्द्र खुद को गणित में एक बाहरी व्यक्ति मानते थे, शायद इसलिए क्योंकि उन्होंने इस विषय को काफी बाद में चुना था। वे दो अन्य बाहरी व्यक्तियों के बड़े प्रशंसक थे – ये थे महान चित्रकार विनसेंट वान–गॉग और सेज़ान। शायद इन दोनों चित्रकारों में वे अपनी छवि देखते थे। चन्द्र अपनी युवावस्था में स्वयं एक उत्साही व प्रतिभाशाली चित्रकार थे।

भारत और इंग्लैण्ड में अपने अन्तिम वर्षों में हरीश चन्द्र 'रिलेटिविस्टिक फील्ड थ्योरी' (आपेक्षिकीय फील्ड सिद्धान्त) में व्यस्त रहे। तब से उनके कार्य का उल्लेख कई शोध पत्रिकाओं ने किया। एक गणितज्ञ के रूप में हरीश चन्द्र ने ऊँची बुलन्दियों को छुआ। उनके सिद्धान्त आज भी उस 'गौथिक चर्च' के समान अटल हैं जिसकी नींव भारी–भरकम भले ही हो, परन्तु उसका ऊपरी भाग हल्का और आसमान को छूता है। चन्द्र के लिए गणित का विषय भगवान और इन्सानों के बीच मध्यस्थता का एक माध्यम था। उसमें उनकी भूमिका लोगों को भगवान के करीब लाना नहीं थी बल्कि भगवान को इन्सानों के पास लाने की थी।

हरीश चन्द्र 1957–58 में गुगेनहीम फैलो और 1961–63 के बीच स्लोन फैलो रहे। 1973 में उन्हें रॉयल सोसाइटी की फैलोशिप से सम्मानित किया गया। 1975 में उन्हें भारतीय विज्ञान अकादमी और राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी की फैलोशिप प्रदान की गई। 1981 में उन्हें अमरीका की नेशनल एकॅडमी ऑफ साइंस (National



Academy of Science) की सदस्यता प्रदान की गई। वे मुम्बई स्थित टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान के मानद फैलो भी थे। 1973 में उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय और 1981 में येल विश्वविद्यालय ने डॉक्टरेट की मानद उपाधियों से सम्मानित किया। 1954 में उन्हें अमरीकन मॅथमॅटिकल सोसाइटी (American Mathematical Society) का 'कोल पुरस्कार' और 1974 में भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी का श्रीनिवास रामानुजन पदक प्राप्त हुआ। भारत सरकार ने उनके सम्मान में इलाहाबाद में गणित और भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में बुनियादी शोध करने वाली संस्था का नाम हरीश चन्द्र शोध संस्थान (Harish-Chandra Research Institute) रखा।

1983 में दिल का दौरा पड़ने से हरीश चन्द्र का देहान्त हुआ। उस समय प्रिंसटन में गणितज्ञ अरमांड बोरेल की 60वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में एक समारोह चल रहा था। अगले साल इसी प्रकार का समारोह हरीश चन्द्र के सम्मान में आयोजित होना था। हरीश चन्द्र अपने पीछे पत्नी ललिता और दो बेटियाँ, प्रेमला और देविका, छोड़ गए।

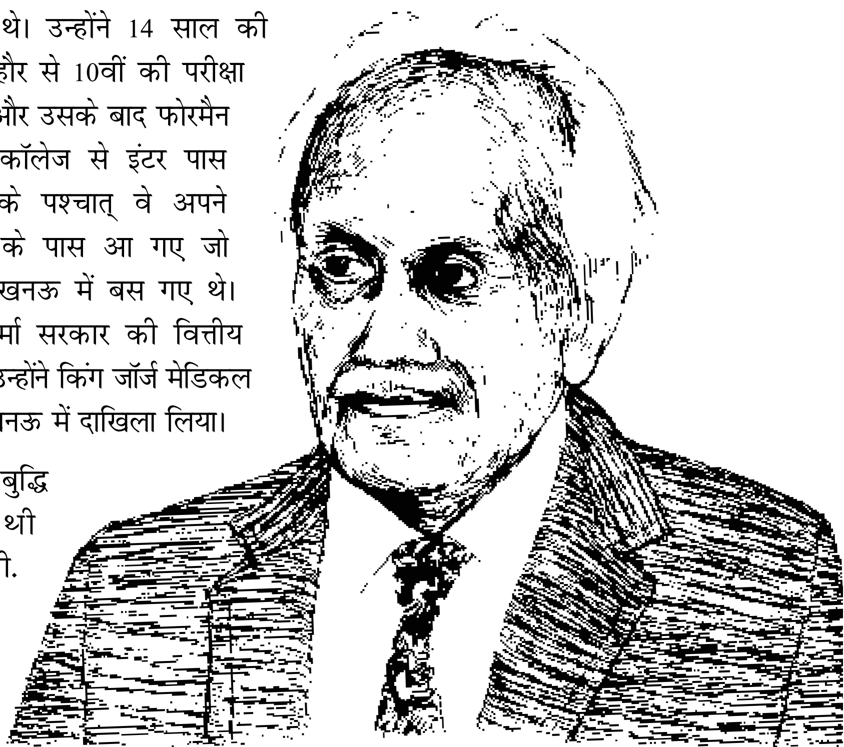


ए.एस. पेंटल

(1925 - 2004)

औतार सिंह पेंटल शायद भारत के सबसे प्रसिद्ध शरीर–क्रिया वैज्ञानिक (physiologist) थे। एक असाधारण शोधकर्ता होने के साथ–साथ वे सजीव एवं अपने विचारों के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति थे।

पेंटल का जन्म 1925 में मोगौक, म्यांमार (तत्कालीन बर्मा) में हुआ था, जहाँ उनके पिता ब्रिटिश मेडिकल सर्विस में कार्यरत थे। उन्होंने 14 साल की आयु में लाहौर से 10वीं की परीक्षा उत्तीर्ण की और उसके बाद फोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज से इंटर पास किया। उसके पश्चात् वे अपने माता–पिता के पास आ गए जो तब तक लखनऊ में बस गए थे। 1943 में बर्मा सरकार की वित्तीय सहायता से उन्होंने किंग जॉर्ज मेडिकल कॉलेज, लखनऊ में दाखिला लिया।



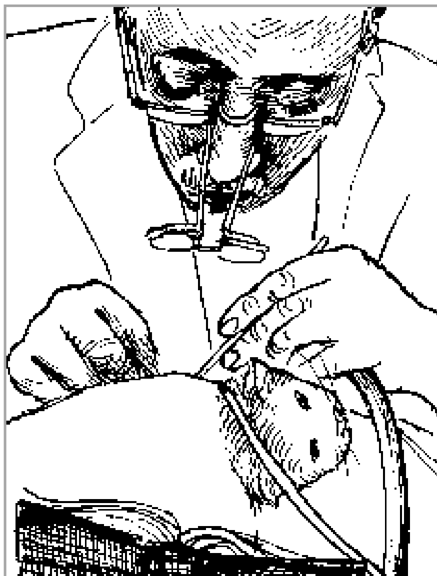
पेंटल की बुद्धि विलक्षण थी और एम.बी.

बी.एस. के दौरान उन्होंने कई पुरस्कार जीते, जिनमें सर्वश्रेष्ठ छात्र को मिलने वाला हैविट स्वर्ण पदक शामिल था। उन दिनों हरेक डॉक्टर मरीज़ों का इलाज करके सुपर–स्पेशलिस्ट बनना चाहता था। परन्तु पेंटल ने इस राह को त्यागकर शरीर–क्रिया विज्ञान में शोध करने की ठानी। एम.डी. में उनके शोध का विषय था – सामान्य व्यक्तियों एवं मनोरोगियों की त्वचा में विद्युत प्रतिरोध (Electrical Resistance of the Skin in Normal Beings and Psychotics)। इस शोधकार्य के लिए उन्होंने खुद अपने हाथों से सारे वैज्ञानिक उपकरण बनाए। किन्तु शोध के लिए 400 मनोरोगियों का मिलना बहुत कठिन काम था।

पेंटल ने मानवीय विद्युतीय संवेदना मापने की पेंटल इंडेक्स (Paintal Index) नामक एक नई संकेतसूची बनाई। प्रारम्भिक दौर में शोधकर्ताओं ने इसका खूब उपयोग किया। पेंटल अपनी मातृसंस्था किंग जॉर्ज मेडिकल कॉलेज में ही रहे और बाद में वहीं पर शरीर–क्रिया विज्ञान के व्याख्याता बन गए।

फिर उन्हें एडिनबरा मेडिकल स्कूल में पीएच.डी. करने के लिए रॉकफेलर छात्रवृत्ति मिली। यहाँ उन्होंने 'जे–संग्राहकों' (J-receptors) को खोजा। उस समय किसी तंत्रिका के एक रेशे को उसकी सक्रियता खत्म किए बिना विच्छेदित करना बहुत मुश्किल काम था। उन्होंने एक नया तरीका खोजा जिसमें उन्होंने पूरी तंत्रिका को तरल पैराफिन में डुबोया और फिर बिना उसकी सक्रियता खत्म किए, एक–एक रेशे को अलग किया। उनके इस अनुसन्धान से इस क्षेत्र में शोधकार्य को बहुत बल मिला।

1953 में पेंटल भारत लौटे और उन्होंने कानपुर की सुरक्षा प्रयोगशाला में कार्य शुरू किया। वहाँ पाँच वर्ष काम करने के बाद उन्होंने शरीर–क्रिया विज्ञान के शोधकर्ता के रूप में दिल्ली स्थित अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, में काम शुरू किया। छह वर्ष बाद वे वल्लभ भाई पटेल चेस्ट हॉस्पिटल के निदेशक बने और इस पद पर वे 1990 तक आसीन रहे। बाद में भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसन्धान परिषद के महानिदेशक के पद पर रहते हुए भी उन्होंने पटेल अस्पताल स्थित अपनी दो कमरे की प्रयोगशाला में शोधकार्य जारी रखा।



पेंटल को जे–संग्राहकों की खोज के लिए जाना जाता है। यह शब्द उन्होंने ही गढ़ा और इस पर उन्होंने गम्भीर शोध कार्य भी किया। हमारे हृदय और गुर्दों में तन्तुओं का एक विशाल जाल होता है। ये तन्तु स्थानीय परिवेश में रासायनिक अथवा यांत्रिक बदलाव होने पर तुरन्त संकेत भेजते हैं। पेंटल ने दिखाया कि जे–संग्राहक ही प्रतिवर्त क्रियाओं (reflex action) के लिए ज़िम्मेदार होते हैं, जो माँसपेशियों के व्यायाम के दौरान उसकी सीमा निर्धारित करने के लिए प्रतिपुष्टि तंत्र के रूप में कार्य करते हैं। व्यायाम के दौरान विषाक्तता से माँसपेशियों की सुरक्षा के लिए नकारात्मक नियंत्रण आवश्यक होता है। जे–संग्राहकों की खोज की दुनियाभर में खूब वाहवाही हुई।

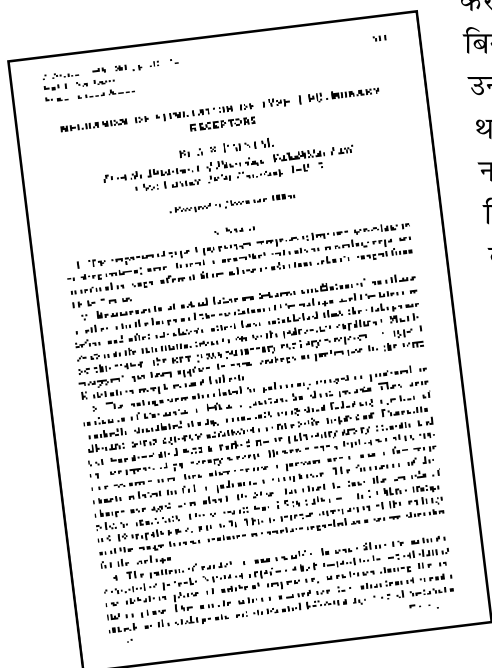
पेंटल अपने शोध के क्षेत्र में दुनिया के अग्रणी लोगों में गिने जाते थे। सुप्रसिद्ध हृदय–वाहिका शरीर विज्ञानी प्रोफेसर सी. हैमंस ने पेंटल के काम की दाद देते हुए तन्तु क्रिया सामर्थ्य (fibre action potential) पर शोध के दो स्पष्ट काल सुझाए – पेंटल–पूर्व और पेंटल–उत्तर।

पेंटल ने जे–संग्राहकों के भिन्न पक्षों पर शोध जारी रखा जिसमें ऊँचे पहाड़ों पर शरीर–क्रिया विज्ञान एवं बहुत श्रम के बाद साँस फूलने जैसी चीज़ें शामिल थीं। इस शोध ने इस बात पर प्रकाश डाला कि ऊँचे इलाकों में कार्यरत भारतीय फौजी वहाँ की परिस्थितियों से कैसे अभ्यस्त होते हैं।

ऊँचे प्रशासकीय पदों की चमक–दमक के प्रति पेंटल कभी भी आकर्षित नहीं हुए। वे अपनी छोटी प्रयोगशाला में खुश थे जहाँ वे गहराई से अपनी खोजबीन जारी रख सकते थे। पेंटल विज्ञान के महज़ एक अच्छे शोधकर्ता

ही नहीं थे। विज्ञान के नैतिक मूल्यों में उनकी गहरी रुचि थी जिसके लिए उन्होंने सोसाइटी फॉर साइंटिफिक वैल्यूज़ (Society for Scientific Values) नाम की संस्था स्थापित की थी। बहुत से वरिष्ठ और युवा वैज्ञानिक इस संस्था के प्रति आकर्षित हुए। यह समूह अपना समय और पैसा खर्च करके वैज्ञानिक धोखाधड़ी के मामलों की जाँच-पड़ताल कर सच्चाई तक पहुँचने का भरसक प्रयास करता था। आज बहुत से लोग और जानी-मानी संस्थाएँ इस समूह की सहायता लेते हैं। पेंटल के ऊँचे नैतिक मापदण्ड अक्सर उनके सहकर्मियों को अखरते थे। वे किसी होटल में आयोजित बैठक या समारोह में कभी भाग नहीं लेते थे। उनका मानना था कि शैक्षिक या वैज्ञानिक बैठकें विश्वविद्यालय के प्रांगण में ही आयोजित होनी चाहिए और पाँच-सितारा होटलों में होने वाले ऐसे आयोजनों से उन्हें दुख होता था। वे कभी किसी कलंकित संस्था में पैर भी नहीं रखते थे – चाहे वह संस्था उन्हें सम्मानित ही क्यों न कर रही हो! उनके इन ऊँचे नैतिक गुणों के कारण बहुत से लोग उन्हें सनकी करार देकर उनसे नाराज़ रहते थे।

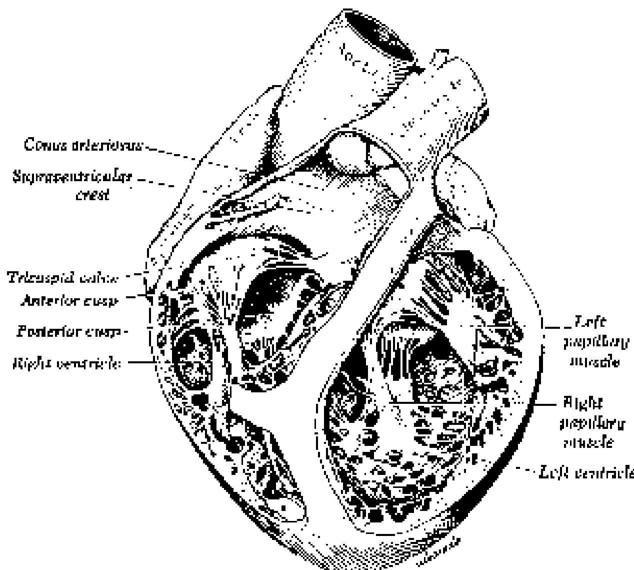
पेंटल के छात्र उन्हें प्रयोगशाला में अक्सर किसी उपकरण की मरम्मत करने में तल्लीन पाते। भारतीय वैज्ञानिक बिरले ही ऐसा करते हुए दिखते थे! निष्ठा के उन उच्च मानकों का अनुकरण करना मुश्किल था। वे गहराई से महसूस करते थे कि लोग नकल करना छोड़ कुछ मौलिक शोध करें जिससे ज्ञान का मौजूदा भण्डार बढ़े। पेंटल का मानना था, "दूसरों के श्रम और ज्ञान पर निर्भर रहकर अनुसन्धान करना चोरी करने के समान है।"


RECEPTORS

शरीर-क्रिया विज्ञान पर शोध के अलावा पेंटल का एकमात्र अन्य शौक था यमुना नदी में नाव चलाना। पर यह वे सालों पहले करते थे, क्योंकि बाद में यमुना नदी न रहकर एक नाला बन गई।

उनका व्याख्यान देने का तरीका भी बहुत रोचक था। उबाऊ भाषण की बजाय वे किस्से-कहानियाँ और अपने अनुभव सुनाते और वैज्ञानिक चर्चाएँ करते। इससे रट्टू तोता छात्र नाराज़ होते क्योंकि उन्हें तो रटने के लिए केवल नोट्स चाहिए होते थे! परन्तु जो छात्र ज्ञान के पिपासु थे, उन्हें पेंटल के प्रेरक व्याख्यानों में अपार आनन्द आता था। पेंटल 'सही' और 'गलत' के अपने मूल्यों पर अटल रहते और व्यावहारिक कारणों से या सामाजिक मंज़ूरी के लिए उन्हें बदलने की ज़रूरत नहीं समझते थे।

अपने 50 सालों के लम्बे शोधकाल में पेंटल ने 400 से अधिक शोधपत्र लिखे। उनके अनुसन्धान का जैव-चिकित्सा विज्ञान पर काफी प्रभाव पड़ा और शरीर-क्रिया विज्ञान के क्षेत्र में तो उनका योगदान अद्वितीय है। अनेक शोधकर्ताओं द्वारा उनके शोधपत्रों का व्यापक रूप से उल्लेख किया जाता है। 2004 तक उनके शोधपत्रों का 3,672 बार उल्लेख हुआ जो किसी भी शोधकर्ता के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है। हालाँकि पेंटल का मानना था कि किसी भी वैज्ञानिक का मूल्यांकन मात्र उसके शोधपत्रों अथवा पुस्तकों के आधार पर नहीं होना चाहिए। उनके अनुसार, "इस प्रकार के मूल्यांकन से कुष्ठ-रोग जैसे अत्यावश्यक क्षेत्रों में शोधकार्य पिछड़ता है (पश्चिमी



देशों को इसकी ज़रूरत नहीं है)। इसलिए, वैज्ञानिकों के मूल्यांकन का आधार उनके शोध की सामाजिक उपयोगिता और उनमें निहित सामाजिक मूल्य ही हो सकते हैं।"

जिस युग में पूरी दुनिया में वैज्ञानिक ऐसे-ऐसे क्षेत्रों में घुस रहे थे जिनमें ज़्यादा पैसा उपलब्ध था और जो ज़्यादा प्रसिद्धि दिला सकते थे तब भी पेंटल अपनी पसन्द के क्षेत्र शरीर-क्रिया विज्ञान में शोध करते रहे जिसकी ओर अधिक लोग आकर्षित नहीं होते थे।

उन्हें अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। 1981 में उन्हें रॉयल सोसाइटी, लन्दन और 1996 में रॉयल सोसाइटी, एडिनबर्ग की फैलोशिप मिली। वे भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी और भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। वे थर्ड वर्ल्ड एकॅडमी (Third World Academy) के संस्थापकों में से एक थे। इस संस्था का काम उनके दिल के बहुत करीब था। 1986 में भारत सरकार ने पेंटल को पद्म विभूषण से अलंकृत किया। उनकी पत्नी आनन्द ने जीवन भर अपने पति के शोध में हाथ बँटाया। औतार सिंह पेंटल का व्यक्तित्व बहुत सरल था। वे दूसरों की गलतियों को नज़रन्दाज़ करते और अपनी महानता का कभी अभिमान नहीं करते थे। इस महान चिकित्सा शोधकर्ता का देहान्त 21 दिसम्बर 2004 में दिल्ली में हुआ।



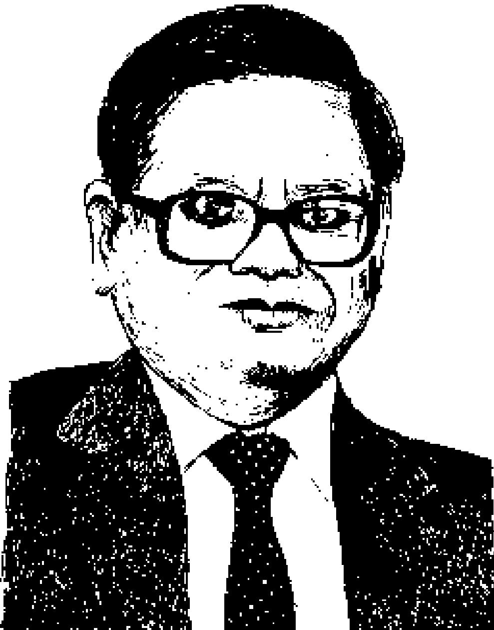


ए.पी. मित्रा

(1927 - 2007)

प्रोफेसर अशेष प्रसाद मित्रा ने आयनमण्डल (ionosphere) और मौसम–परिवर्तन (climate change) के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य किया। उन्होंने अपने गुरु प्रोफेसर शिशिर कुमार मित्रा के शोधकार्य को दक्षता से आगे बढ़ाया।

ए.पी. मित्रा का जन्म 21 जनवरी 1927 में कोलकाता में हुआ। इसी शहर में उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। उनके पिता एक विद्यालय में शिक्षक थे जिनसे उन्होंने शिक्षा और अनुशासन के उच्च मूल्य ग्रहण किए। बचपन के इन मूल्यों का मित्रा ने पोषण किया और उन्हें आजीवन अपनाया। पढ़ाई में तेज़ होने के कारण वे अपनी कक्षा में हमेशा प्रथम आते। कोलकाता विश्वविद्यालय से एम.एससी. की पढ़ाई समाप्त करने के बाद उन्होंने प्रोफेसर एस.के. मित्रा की प्रयोगशाला में काम प्रारम्भ किया। प्रोफेसर मित्रा ने आयनमण्डल के क्षेत्र में अग्रणी शोध कार्य किया था। इस एक निर्णय ने उन्हें विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ाया और उसमें गौरवशाली स्थान दिलाया।



1954 में कोलकाता विश्वविद्यालय से डी.फिल. समाप्त करने के बाद मित्रा ने दिल्ली स्थित राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (National Physical Laboratory) में काम करना शुरू किया। वहाँ उन्होंने रेडियो–विज्ञान का एक नया विभाग शुरू किया और उसके साथ अन्त तक बहुत गहराई से जुड़े रहे। रेडियो विज्ञान का विकास बहुत हद तक आयनमण्डल के अध्ययन से जुड़ा था। आयनमण्डल पृथ्वी के ऊपरी वातावरण का वह क्षेत्र है जो रेडियो–तरंगों को परावर्तित कर वापस भेजता है। इसी वजह से पृथ्वी की गोल सतह पर रेडियो संचार सम्भव हो पाता है। रॉकेटों के आगमन से पहले वातावरण के इस दूरस्थ क्षेत्र तक पहुँच पाना बहुत मुश्किल काम था। आयनमण्डल के बारे में हम जो कुछ थोड़ा–बहुत जानते थे वह वर्णक्रम विज्ञान (spectroscopy) या पृथ्वी पर लगे वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा ही सम्भव हो पाता था। भारत में आयनमण्डल पर शोधकार्य की नींव प्रोफेसर एस.के. मित्रा ने रखी थी। लम्बे समय तक उनसे जुड़े रहे उनके उत्तराधिकारी ए.पी. मित्रा ने इस कार्य को आगे बढ़ाया।

आयनमण्डल पर शोधकार्य हमेशा किसी काल विशेष में उपलब्ध तकनीक पर निर्भर रहा है। पिछली सदी के साठ के दशक में इस ऊपरी वातावरण की जाँच–परख रॉकेटों के साथ भेजे उपकरणों के ज़रिए की गई। सत्तर के दशक में 'सैटेलाइट इंस्ट्रक्शनल टेलिविज़न एक्सपेरिमेन्ट' कार्यक्रम के अन्तर्गत रेडियो–संकेतों द्वारा इस क्षेत्र का अध्ययन किया गया। अस्सी के दशक में हीलियम के गुब्बारों और रॉकेटों के ज़रिए इस दूर–दराज़ क्षेत्र के बारे में तमाम जानकारी एकत्रित की गई। नब्बे के दशक में उपग्रहों और राडार के ज़रिए पृथ्वी की सतह से 1,000 किलोमीटर ऊपर तक के क्षेत्र का अध्ययन हुआ। इसमें उस क्षेत्र के भौतिक गुणधर्मों, जैसे घनत्व और तापमान के साथ–साथ अन्य बहुत से मापदण्डों का अध्ययन हुआ। मित्रा ने इन सब अध्ययनों का समन्वय किया और निगरानी की।

अन्तर्राष्ट्रीय भू–भौतिक वर्ष 1957–58 और अन्तर्राष्ट्रीय सूर्य वर्ष 1964–65 के दौरान मित्रा ही भारतीय दल की प्रमुख चालक शक्ति थे।

1970 के दशक में मित्रा ने परिवर्ती मण्डल (troposphere) क्षेत्र में रेडियो–शोधकार्य का प्रारम्भ किया। इससे भारत की रेडियो संचार क्षमता

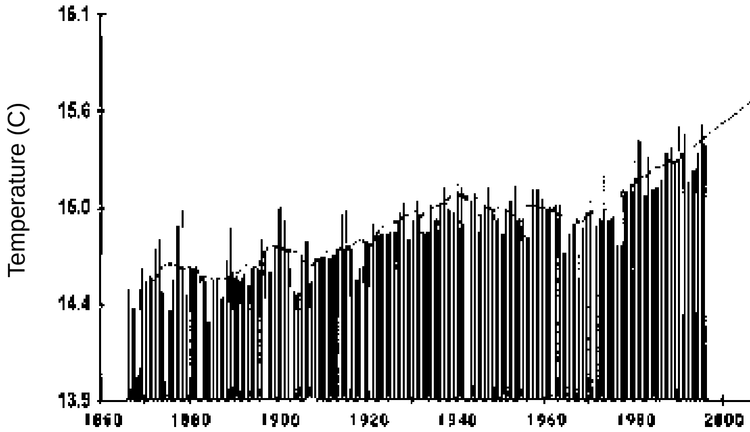


को बहुत लाभ पहुँचा। उन्होंने भारत समेत मध्य और दक्षिण–पूर्व एशिया में सम्भावित भूकम्पों की पूर्व–चेतावनी देने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय रेडियो व भू–भौतिक चेतावनी केन्द्र (International Radio and Geophysical Warning Centre) की स्थापना की। उन्होंने इसी तरह रेडियो तरंगों द्वारा आग की लपटें पहचानने का तंत्र भी स्थापित किया।

मित्रा एक बढ़िया वैज्ञानिक होने के साथ–साथ एक कुशल प्रशासक भी थे, और अपने स्वभाव की दृढ़ता के लिए जाने जाते थे। इन गुणों के कारण 1982–86 के दौरान राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के निदेशक और 1986–91 के दौरान वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान परिषद के महानिदेशक के पद पर उन्होंने प्रभावी तरीके से कार्य किया। वे 'मॉनसून एशिया एकीकृत क्षेत्रीय अध्ययन' कार्यक्रम (Monsoon Asia Integrated Regional Study programme) में भारत के प्रमुख संचालक थे।

1990 के दशक में मनुष्य की गतिविधियों द्वारा दुनिया के पर्यावरण में आए बदलाव और उसके परिणामों के अध्ययन पर मित्रा का प्रमुख बल रहा। ओज़ोन परत, वातावरणीय रसायन विज्ञान और भारत में ग्रीनहाउस गैसों को मापने के उनके अद्बितीय शोधकार्य का अन्तर्राष्ट्रीय असर हुआ। 1990 के आरम्भ में अमरीका की पर्यावरण संरक्षण एजेंसी ने आरोप लगाया कि भारत में धान के खेतों से प्रति वर्ष 38.4 मिलियन टन मीथेन गैस उत्सर्जित होती है जो पृथ्वी के तापमान के बढ़ने का एक प्रमुख कारण है। मित्रा ने इसे सफेद झूठ बताया और अपने ठोस वैज्ञानिक अध्ययन से सिद्ध किया कि भारतीय धान के खेतों से केवल चार मिलियन टन मीथेन ही निकलती है। और सच्चाई यह है कि भारत की तुलना में पश्चिम के देश प्रति व्यक्ति नौ गुना ज़्यादा ग्रीनहाउस गैसें पैदा करते हैं। उन्होंने कोयला जलने से तथा दुकानों व घरों में लगे डीज़ल जेनरेटरों और कृषि उत्पादन में लगे डीज़ल इंजनों द्वारा पैदा प्रदूषण के प्रति आगाह किया।

वे पर्यावरण से जुड़े विज्ञान की राजनीति को उत्कृष्ट स्वदेशी वैज्ञानिक शोध से चुनौती देना चाहते थे। उन्हें लगता था कि विदेशी धन प्रदाता संस्थाएँ



वार्षिक वैश्विक तापमान के इस ग्राफ में वैश्विक तापमान वृद्धि दिखाई गई है।

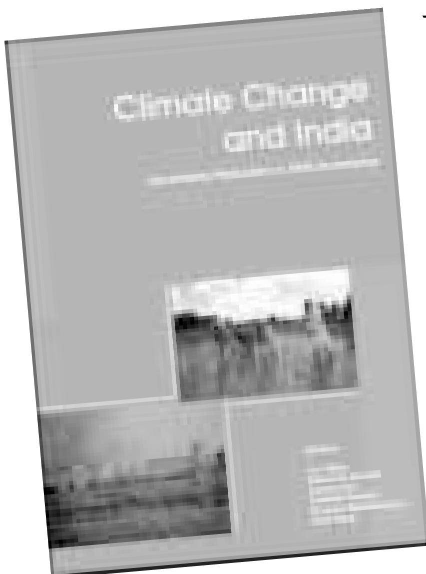
अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के लिए वैज्ञानिक शोध को तोड़ती–मरोड़ती हैं। इसलिए उनकी प्रबल इच्छा थी कि दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संगठन (दक्षेस) के तत्वावधान में एक ऐसा नेटवर्क खड़ा हो जो इन देशों में होने वाले प्रदूषण और मौसमी बदलाव की प्रामाणिक जानकारी एकत्रित करे और भारत इसकी अगुवाई करे। उन्होंने विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में मौसम सम्बन्धी जानकारी एकत्रित करने के लिए प्रयोगशालाएँ स्थापित करने का सुझाव दिया। इस शोधकार्य में मित्रा भारतीय सेना को भी शामिल करना चाहते थे, खास तौर पर पूर्वी हिमालय के ऊबड़–खाबड़, दूरस्थ और ऊँचाई पर स्थित उन क्षेत्रों में जहाँ वैज्ञानिक नहीं पहुँच पाते थे। उनका पक्का विश्वास था कि अच्छी नीतियों के लिए सटीक और अधिकृत आँकड़े होना अनिवार्य है। उनके अनुसार इंटर–गवर्नमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज (Intergovernmental Panel on Climate Change) अपने शोध में बहुत पीछे था। वे चाहते थे कि भारत प्रदूषण और गैस उत्सर्जन पर ठोस शोधकार्य करे और मौसम–परिवर्तन के मुद्‌दे पर उपयुक्त नीतियाँ बनाए।

1999 में मित्रा ने भारत, यूरोप, मालदीव और अमरीका के 200 से भी अधिक वैज्ञानिकों के साथ मिलकर फील्ड में छह हफ्ते का एक गहन प्रयोग किया। इसमें उन्होंने हवा में मौजूद एरोसोल (Aerosols) नामक बहुत

सूक्ष्म कणों का मौसम पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया। मित्रा दुनिया के उन तीन वैज्ञानिकों में से थे जिन्होंने हिन्द महासागर प्रयोग (Indian Ocean Experiment) में भाग लिया। इस प्रयोग को हिन्द महासागर में उस स्थान पर किया गया जहाँ अंटार्कटिका से आई शुद्ध हवा भारतीय उपमहाद्वीप से आई कुछ–कुछ प्रदूषित हवा से मिलती है। इस तरह हिन्द महासागर एक अनूठे अध्ययन की प्रयोगशाला बन गया। वैज्ञानिकों को भारत के क्षेत्रफल से सात गुना बड़ी गहरी धुँध उत्तरी हिन्द महासागर में दिखाई पड़ी। इस धुँध की वजह से मॉनसून के बादल बनने और वर्षा की मात्रा पर गम्भीर प्रभाव पड़ सकते थे। मित्रा ने चेतावनी दी कि एरोसोल के सूक्ष्म कणों से वर्षा और कृषि उपज पर प्रभाव पड़ सकता है और दमा बढ़ सकता है।

मित्रा ने जल संरक्षण पर विशेष बल दिया और भविष्य में राष्ट्रों के बीच पानी को लेकर युद्ध होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया। वे कम वर्षा वाले इलाकों में गन्ने जैसी अधिक पानी सोखने वाली फसलों को प्रोत्साहित करने वाली संकीर्ण नीतियों के कड़े आलोचक थे।

उन्होंने 200 से अधिक वैज्ञानिक शोधपत्र लिखे और कई पुस्तकों का सम्पादन किया। इनमें से कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें हैं: *Advances in Space Exploration* (अन्तरिक्ष की खोज में नए कदम) (1979) (सम्पादित), Ionospheric Effects of Solar Flares (सौर फैलावों के आयनमण्डल पर प्रभाव) *तथा Human Influences on Atmospheric Environment* (पर्यावरण पर मानवीय प्रभाव)। वे कई वैज्ञानिक शोध पत्रिकाओं के सम्पादन मण्डल के सदस्य भी थे, जैसे – *जर्नल ऑफ एटमॉस्फीयरिक एंड टेरेस्ट्रियल फिज़िक्स (Journal of Atmospheric and Terrestrial Physics)*, *स्पेस साइंस*



रिव्यूज़ (Space Science Reviews), *इण्डियन जर्नल ऑफ रेडियो एंड स्पेस फिज़िक्स (Indian Journal of Radio and Space Physics)* और *मौसम (Mausam)*।

मित्रा को बहुत से पुरस्कारों से सम्मानित किया गया, जिनमें 1968 में भौतिक विज्ञानों के लिए शान्तिस्वरूप भटनागर पुरस्कार और 1989 में पद्म भूषण शामिल हैं। 1988 में उन्हें लन्दन की रॉयल सोसाइटी का फैलो चुना गया। वे कई अन्य प्रतिष्ठित विज्ञान अकादमियों के सदस्य भी थे।

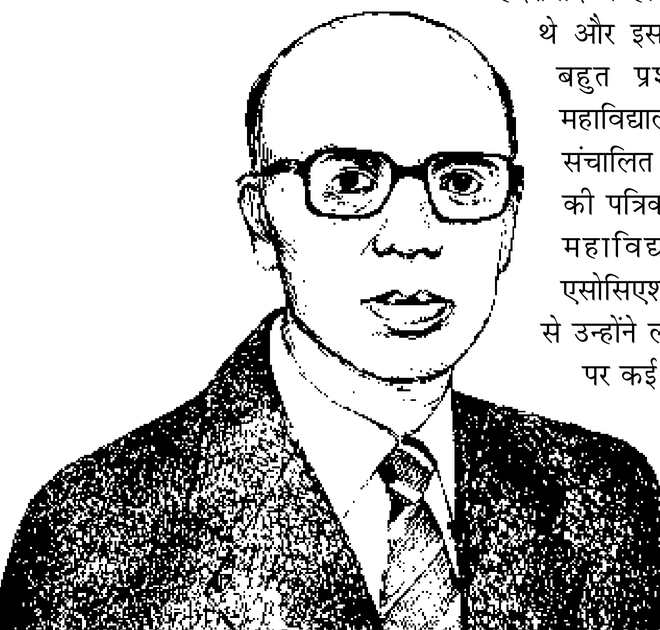
मित्रा ने स्वतंत्र भारत में विज्ञान द्वारा विकास के सपने को जिया। उनका देहान्त 81 वर्ष की आयु में दिल्ली में 3 सितम्बर 2007 को हुआ। वे अपने पीछे पत्नी सुनन्दा और दो बेटियाँ छोड़ गए।



एम.के. वेणु बप्पू
(1927 - 1982)

भारत में आधुनिक खगोलशास्त्र के शोध का ताना–बाना बुनने का पूर्ण श्रेय वेणु बप्पू को जाता है। उनके अथक परिश्रम की वजह से ही भारत में खगोलशास्त्र पर भावी शोधकार्य के लिए आवश्यक अधोसंरचना का निर्माण हुआ।

वेणु बप्पू का जन्म 10 अगस्त 1927 को हुआ। उनका परिवार कन्ननूर का रहने वाला था परन्तु उनके पिता हैदराबाद में स्थित निज़ामिया वेधशाला में कार्यरत थे। इसलिए वेणु बप्पू की स्कूल और महाविद्यालय की शिक्षा हैदराबाद में ही हुई। वे एक अच्छे वक्ता थे और इस कारण स्कूल में उनकी बहुत प्रशंसा होती थी। अपने महाविद्यालय में उन्होंने विज्ञान क्लब संचालित किया और महाविद्यालय की पत्रिका का सम्पादन भी किया। महाविद्यालय की फिज़िक्स एसोसिएशन के सचिव की हैसियत से उन्होंने लोकप्रिय विज्ञान के विषयों पर कई व्याख्यान आयोजित किए। 1943 में जब सी.वी. रामन ने हैदराबाद में कुछ



व्याख्यान दिए तो वेणु बप्पू हर रोज़ अपनी साइकिल से 16 किलोमीटर की यात्रा करके जाते थे और व्याख्यान के बाद वापस आते थे। उन्होंने एक भी व्याख्यान छूटने नहीं दिया।

वे शौकिया चित्रकार थे और उत्कृष्ट साहित्य में उनकी गहरी रुचि थी। उन्हें अँग्रेज़ी कविताओं और उर्दू के साहित्य से प्रेम था। मिर्ज़ा ग़ालिब उनके प्रिय शायर थे। महाविद्यालय में वे क्रिकेट और टेनिस के शानदार खिलाड़ी थे। एक साहसी युवा की तरह शायद उनके दिल में पायलट बनने की उमंग थी। उनकी सबसे प्रिय पुस्तक थी द *स्पिरिट ऑफ सेंट लूईस (The Spirit of St. Louis)* जो चार्ल्स लिंडबर्ग की अमर गाथा है। विज्ञान और कला, दोनों ही क्षेत्रों में वेणु बप्पू के आदर्श विख्यात वैज्ञानिक होमी भाभा थे। वेणु बप्पू की कला की झाँकी को आज भी उनके द्वारा स्थापित विभिन्न वेधशालाओं की दीवारों पर और बगीचों में देखा जा सकता है।

बचपन से ही वेणु बप्पू ने निज़ामिया वेधशाला में दूरबीनें देखी थीं। रात के आकाश के सौन्दर्य से वे बचपन से ही प्रभावित थे। महाविद्यालय में उन्होंने एक वर्णक्रमलेखी (spectrograph) का निर्माण किया। इसके लिए उन्होंने अपने शयनकक्ष की खिड़की से लगातार छह रातों तक एक 'संवेदनशील' प्लेट पर प्रकाश पड़ने दिया। 1946 में इस विषय पर उन्होंने अपना पहला वैज्ञानिक शोधपत्र प्रकाशित किया।

1948 में एम.एससी. की पढ़ाई खत्म करने के बाद वे अपनी आजीविका के लिए खगोलशास्त्र का क्षेत्र चुनना चाहते थे, परन्तु उस समय भारत में इस पेशे के लिए अवसर बहुत कम थे। संयोगवश उसी समय इंग्लैण्ड के खगोलशास्त्री हैरल्ड स्पेंसर जोंस और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हारलो शेपली भारत की यात्रा पर आए थे। वेणु बप्पू ने उनसे हैदराबाद में मुलाकात की। शेपली की मदद से 1949 में हैदराबाद सरकार द्वारा दिए वज़ीफे के कारण वेणु बप्पू हार्वर्ड विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए चले गए। हार्वर्ड में वेणु बप्पू ने अपने आपको बहुत काबिल और प्रेरक लोगों के बीच पाया। हार्वर्ड आने के चन्द महीनों के भीतर ही वेणु बप्पू ने एक नया पुच्छल तारा खोज निकाला। आकाश के सामान्य चित्रों को देखते हुए उन्हें एक फोटो-प्लेट पर कुछ अलग-सा नज़र आया। इस प्रकार

अपने साथियों के साथ वेणु ने इस नए पुच्छल तारे को खोजा, जिसे उसको खोजने वालों के नाम पर बप्पू–बोक–न्यूकिर्क नाम दिया गया। उनकी इस खोज के लिए एस्ट्रॉनॉमिकल सोसाइटी ऑफ द पॅसिफिक (Astronomical Society of the Pacific) ने वेणु बप्पू को डोनोहोए कॉमेट पदक से सम्मानित किया।

1951 में पीएच.डी. समाप्त करने के बाद वेणु बप्पू पहले भारतीय थे जिन्हें खगोलशास्त्र पर शोधकार्य के लिए प्रतिष्ठित कारनेगी मेलन फैलोशिप मिली। इस वजह से उन्हें माउंट पालोमार स्थित दुनिया की सबसे बड़ी, 200 इंच व्यास की दूरबीन पर काम करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यहाँ उन्होंने तारा–वर्णक्रम–विज्ञान की चुनौतीपूर्ण समस्याओं का हल खोजने का प्रयास किया। वौल्फ–रेयत (Wolf Rayet) नामक तारों पर उनके गहन शोध ने उन्हें पूरे विश्व में इस विषय के विद्वान के रूप में स्थापित कर दिया।

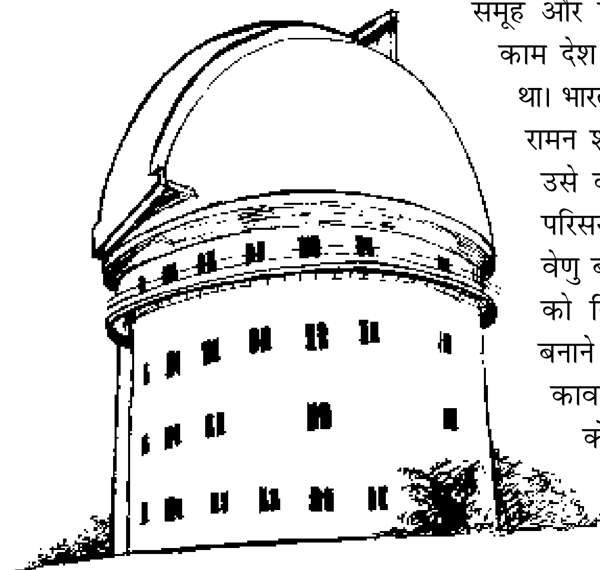
1953 में वेणु बप्पू भारत लौटे। उस समय भारत में खगोलशास्त्र पर शोध करने की सुविधाएँ बेहद पिछड़ी हुई थीं और देश में उपलब्ध सबसे बड़ी दूरबीन मात्र 15 इंच व्यास का दूरविक्षण यंत्र (refractor) था। 1954 में वेणु बप्पू ने वाराणसी स्थित वेधशाला में प्रमुख खगोलशास्त्री के रूप में काम शुरू किया। वेधशाला बेहतर स्थान पर ले जाने के लिए उन्होंने उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री को राज़ी किया। वेणु बप्पू ने इसके लिए नैनीताल के पास एक उपयुक्त पहाड़ी चुनी। कुछ ही सालों में उन्होंने वहाँ कई युवा एवं प्रेरित वैज्ञानिकों को प्रशिक्षित किया जिन्होंने बाद में देश में खगोलशास्त्र के विकास में अहम भूमिका निभाई।

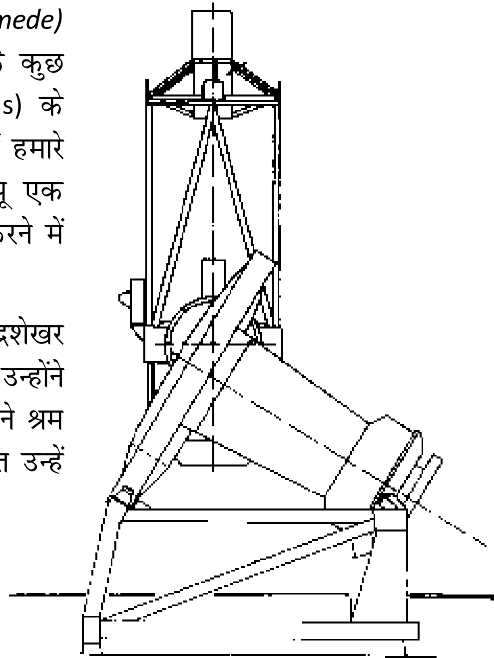
1960 में भारत सरकार के आग्रह पर वेणु बप्पू 170 साल पुरानी कोडैकनाल वेधशाला के सबसे युवा निदेशक बने। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने 1792 में इसे मद्रास में स्थापित किया था और फिर उसे 1899 में कोडैकनाल स्थानान्तरित किया था। इससे पहले प्रतिष्ठित खगोलशास्त्री, जैसे एन.आर. पोगसन और 'एवरशेड प्रभाव' (Evershed Effect) के लिए प्रसिद्ध जॉन एवरशेड, इस संस्था के निदेशक रह चुके थे। वेणु बप्पू ने यहाँ पर उपकरण निर्माण और प्रकाश विज्ञान की एक कार्यशाला स्थापित की। इसमें कई छोटी दूरबीनें और वर्णक्रमलेखी निर्मित हुए। उन्होंने पुरानी सौर

दूरबीनों में जटिल इलेक्ट्रॉनिकी का समावेश कर सूर्य का अध्ययन करने के लिए उनकी क्षमता को बढ़ाया। कोडैकनाल में खगोलशास्त्र पर शोध कार्य करने वाली एक सम्पूर्ण संस्था और एक वेधशाला के वेणु बप्पू के सपने ने आकार लेना शुरू किया।

वेणु बप्पू ने जल्द ही महसूस किया कि पूरे साल तारों का अध्ययन करने के लिए कोडैकनाल वेधशाला का स्थान अनुपयुक्त था। नए स्थान की खोज में वेणु बप्पू ने कन्याकुमारी से लेकर तिरुपति तक का भ्रमण किया और अन्त में वे तमिलनाडु में जवडी हिल नामक स्थान पर पहुँचे। यहाँ उन्हें एक पठार मिला जो चारों ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ था। कावालूर नामक गाँव के पास स्थित यह स्थान खगोलशास्त्रीय अवलोकनों के लिए उपयुक्त था। वेणु बप्पू ने कावालूर में 38 इंच व्यास की दूरबीन स्थापित की। बाद में इसी वेधशाला में उन्होंने 100 से.मी. व्यास की कार्ल ज़ाईस कम्पनी की दूरबीन लगाई।

1971 में कोडैकनाल और कावालूर वेधशालाओं ने सम्मिलित रूप से एक स्वशासी शोध केन्द्र की स्थापना की – भारतीय ताराभौतिकी संस्थान (Indian Institute of Astrophysics)। इस संस्थान ने देश में खगोलशास्त्र के क्षेत्र में अनुसन्धान का महत्वपूर्ण कार्य किया। इसका एक सैद्धान्तिक समूह और दूसरा कार्यकारी समूह था जिसका काम देश में बड़ी दूरबीनों का निर्माण करना था। भारतीय ताराभौतिकी संस्थान की शुरुआत रामन शोध संस्थान में हुई किन्तु जल्द ही उसे कोरमंगला, बैंगलोर में उसके अपने परिसर में स्थानान्तरित कर दिया गया। वेणु बप्पू ने भारतीय ताराभौतिकी संस्थान को विश्व का एक अग्रणी शोध केन्द्र बनाने के लिए बहुत परिश्रम किया। कावालूर में कार्ल ज़ाईस दूरबीन लगने के 15 दिनों के अन्दर ही एक अनूठा और विरल तारा प्रच्छादन (occultation) देखा गया।





इससे बृहस्पति ग्रह के चन्द्रमा गैनीमीड *(Ganymede)* में वायुमण्डल होने का प्रमाण मिला। इसके कुछ वर्ष पश्चात् इसी दूरबीन से वरुण (Uranus) के वलय दिखाई दिए जिनसे ब्रह्माण्ड के बारे में हमारे ज्ञान में इज़ाफा हुआ। इस प्रकार वेणु बप्पू एक विश्वस्तरीय क्षमता की वेधशाला स्थापित करने में सफल हुए।

1970 में नोबल पुरस्कार विजेता एस. चन्द्रशेखर भारतीय ताराभौतिकी संस्थान देखने आए और उन्होंने वेणु बप्पू के प्रयासों की खूब प्रशंसा की। इतने श्रम और लगन के साथ जीवन बिताने की कीमत उन्हें चुकानी पड़ी और बायपास सर्जरी के बाद 19 अगस्त 1982 को 55 वर्ष की अल्पायु में ही वेणु बप्पू का निधन हो गया। अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले ही वे इंटरनेशनल एस्ट्रॉनॉमिकल यूनियन (International Astronomical Union) के अध्यक्ष पद के लिए चुने गए थे। वेणु बप्पू के सपनों की 234 से.मी. व्यास की दूरबीन को उनके देहान्त के बाद तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने राष्ट्र को समर्पित किया और कावालूर वेधशाला का नाम उनके सम्मान में वेणु बप्पू वेधशाला रखा गया।

वेणु बप्पू अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण बहुत से पुरस्कारों से सम्मानित हुए। 1970 में उन्हें भौतिक विज्ञानों के लिए शान्तिस्वरूप भटनागर पुरस्कार और 1977 में भौतिकी का हरिओम आश्रम पुरस्कार मिला। 1981 में भारत सरकार ने उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया। अपने एक भाषण में वेणु बप्पू ने कहा था, "बार-बार हम देखते हैं कि कोई एक व्यक्ति आता है और वो भ्रम और अव्यवस्था की स्थिति को बदलकर उसे तर्कसंगत, सुन्दर और सरल बना जाता है।" इन शब्दों को बयान करते समय शायद वेणु बप्पू को इस बात का अन्दाज़ा नहीं था कि वे खुद अपनी ज़िन्दगी का वर्णन कर रहे हैं।



पी.के. सेठी

(1927 - 2008)

मैंने अक्सर हमारे युवा चिकित्सकों को यह सलाह दी है कि वे ढेरों पैसे बनाने के चक्कर में न पड़ें – मरीज़ों की कृतज्ञता ही उनके लिए पर्याप्त होनी चाहिए।

– पी.के. सेठी

दुनिया भर के युद्ध क्षेत्रों में – अफगानिस्तान, श्रीलंका से लेकर रवाण्डा तक – बहुत से लोगों ने भारत के शहर जयपुर का नाम सुना होगा। राजस्थान की राजधानी जयपुर का नाम युद्ध क्षेत्रों में एक असाधारण कृत्रिम पैर *जयपुर–फुट* (Jaipur Foot) के कारण मशहूर है। बारूदी सुरंगों से विकलांग हुए लाखों लोगों के लिए यह किफायती कृत्रिम पैर एक क्रान्तिकारी वरदान साबित हुआ है। जयपुर–फुट का डिज़ाइन डॉक्टर प्रमोद कर्ण सेठी ने अपने सहकर्मी के सहयोग से किया था।

प्रमोद का बचपन वाराणसी में बीता। उनके पिता डॉ. निखिल कर्ण सेठी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान पढ़ाते थे जहाँ विद्वता, सादगी, बलिदान और राष्ट्र–सेवा जैसे मूल्यों पर ज़ोर दिया जाता था। उनके परिवार में गाँधीजी के आदर्शों का बोलबाला था। डॉ. सेठी ने भौतिक विज्ञान पर हिन्दी में पहली पाठ्यपुस्तक लिखी और उसके बाद उन्होंने कई वैज्ञानिक ग्रन्थों का अँग्रेज़ी से हिन्दी में अनुवाद किया। शादी में दहेज देने की बजाय उन्होंने अपनी सभी बेटियों को उच्च शिक्षा के लिए प्रोत्साहित

किया। 1930 में डॉ. सेठी आगरा महाविद्यालय में पढ़ाने लगे, इसलिए प्रमोद की शिक्षा भी वहीं हुई। प्रमोद सेंट जॉन्स स्कूल में पढ़े। बाद में उन्होंने एम.बी.बी.एस. और एम.एस. की पढ़ाई सरोजिनी नायडू मेडिकल कॉलेज, आगरा से पूरी की। अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण 1954 में उन्हें एडिनबर्ग से रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन्स (Royal College of Surgeons) की फैलोशिप दी गई।

प्रमोद का प्रशिक्षण एक शल्यचिकित्सक के रूप में हुआ था परन्तु वे संयोग से हड्डी–रोग के क्षेत्र में आ गए। एक उच्चस्तरीय समिति जयपुर के सवाई माधो सिंह अस्पताल के मुआयने के लिए आने वाली थी। अस्पताल में हड्डी–रोग विभाग ही नहीं था, इसलिए प्राचार्य ने प्रमोद से इस नए विभाग को शुरू करने के लिए कहा। उनके इस कार्य के कितने दूरगामी परिणाम होंगे इसका अन्दाज़ा शायद प्राचार्य को भी नहीं था। बाद में सेठी ने एक हल्का, टिकाऊ और कम–लागत का कृत्रिम पैर बनाया जिसने दुनिया भर में लाखों लोगों का जीवन बदल दिया।

जयपुर–फुट का आविष्कार एक अनूठी जोड़ी ने किया: एक पेशेवर शल्यचिकित्सक डॉ. प्रमोद कर्ण सेठी, जो ब्रिटेन के रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन्स के फैलो थे, और उनके साथी रामचन्द्र शर्मा, जो एक दक्ष शिल्पी थे और कभी स्कूल नहीं गए थे। दोनों 30 वर्ष पूर्व पहली बार जयपुर के सवाई माधो सिंह अस्पताल में ही मिले। तब डॉ. सेठी वहाँ बैसाखियों के माध्यम से विकलांग मरीज़ों की सहायता कर रहे थे और शर्मा कुष्ठरोगियों को हस्तशिल्प बनाना सिखा रहे थे।



सेठी पोलियो पीड़ितों और पैर–कटे मरीज़ों के लिए उपयुक्त, कम कीमत वाले उपकरण चाहते थे। कृत्रिम अंग बनाने के निकटतम केन्द्र बहुत दूर पुणे या मुम्बई में थे, जहाँ केवल अमीर लोग ही जा सकते थे। इसलिए सेठी ने अस्पताल के प्रांगण में ही विकलांगों



के लिए कुछ स्थानीय उपकरण बनाने की सोची। पुणे स्थित सेना अंग केन्द्र कृत्रिम पैर बनाता था, जो बहुत भारी और कड़ा था और उसे जूते से ढँककर रखना पड़ता था। लोग मजबूरी में उसे खरीदते पर जल्द ही उसे त्याग देते थे। इसमें जूता सबसे बड़ी अड़चन था क्योंकि भारत में लोग खेतों, घरों और पूजास्थलों पर नंगे पैर जाने के आदी होते हैं। यह विदेशी पैर महँगा होने के साथ-साथ पानी और मिट्टी के सम्पर्क में आकर बहुत जल्दी खराब हो जाने वाला था। उसमें एक और कमी थी – वह लचीला नहीं था। विदेशी पैर लगाकर न तो शौचालय में बैठा जा सकता था और न ही पालथी मारकर बैठा जा सकता था।

सेठी को श्रीलंका में बने एक डिज़ाइन से प्रेरणा मिली। उसमें कृत्रिम टाँग को रबर से ढँका गया था। इसे पहनकर आम किसान पानी से भरे धान के खेतों में काम कर सकता था। सेठी ने एक स्थानीय कारीगर से गन्धक डालकर कड़ा किए हुए (vulcanized) रबर के एक कृत्रिम पैर का नमूना बनवाया। शुरू का पैर भारी और कड़ा था, पर धीरे-धीरे उसमें सुधार करते

हुए उसके खोल को हल्की स्पंज–रबर से भरा गया। बाद में एड़ी में मॉइक्रो–सेल्युलर रबर लगाया गया और ऊपर की ओर पच्चर काटकर सभी दिशाओं में मुड़ सकने वाला एक जोड़ बनाया गया। एक मरीज़ के भाई ने बाहरी रबर को बिलकुल चमड़ी जैसा रंग दिया। इस प्रकार बना पहला जयपुर–फुट।

जयपुर–फुट को पहनकर किए गए प्रयोगों द्वारा उसके टिकाऊपन, उपयुक्त कीमत और सहूलियत की पुष्टि हुई। चलते समय जब चौड़ा तलवा ज़मीन को स्पर्श करता था तो पहनने वाले को सुरक्षा की अनुभूति होती थी। रबर के बाहरी खोल के कारण यह कृत्रिम पैर टूट–फूट से मुक्त था। अगर उसकी सतह खुरच जाती तो साइकिल के पंचर जैसे पैबन्द लगाकर उसकी मरम्मत की जा सकती थी।

1970 में डॉक्टर सेठी ने जयपुर–फुट पर पहला शोधपत्र लिखा। 1974 में उन्हें स्विट्ज़रलैण्ड में कृत्रिमांगस्थापन शल्यचिकित्सा (prosthetics) पर हो रहे प्रथम विश्व सम्मेलन में मुख्य वक्ता के रूप में आमंत्रित किया गया।

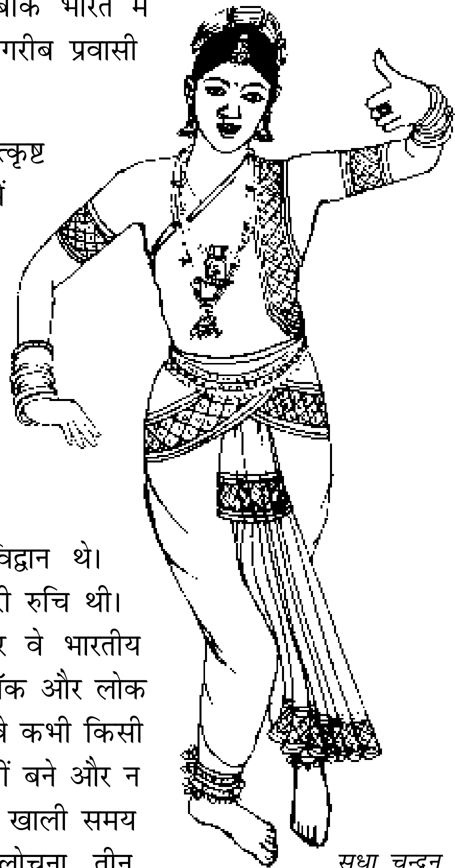
1975 में बिहार के एक पूर्व–मरीज़ श्री अर्जुन अग्रवाल, जो एक धनी किसान थे, ने एक बड़ा अनुदान दिया, जिससे अस्पताल में पाँच मंज़िला पुनर्वास केन्द्र का निर्माण सम्भव हो पाया। उसके बाद राज्य सरकार और निजी दाताओं ने भी अनुदान दिए। किस प्रकार मरीज़ों का पुनर्वास केन्द्र में स्वागत होता है और उनका इलाज किया जाता है, यह वर्णन पढ़ने लायक है: “मरीज़ देश के सभी हिस्सों से बिना खबर दिए वहाँ पहुँचते हैं। अक्सर उनके साथ कोई रिश्तेदार होता है। सबसे पहले उन्हें कहा जाता है कि वे सुरक्षित अस्पताल पहुँचने की खबर टेलीफोन से अपने घर वालों को दे दें। अस्पताल में भोजन, आवास और सारा उपचार मुफ्त होता है। प्रत्येक मरीज़ को एक साधारण थैला दिया जाता है जिसमें साबुन, मंजन, ब्रुश, थाली, मग और एक तौलिया शामिल होता है। इन सब वस्तुओं से लैस होकर मरीज़ पुनर्वास केन्द्र के आँगन में प्रवेश करता है। आँगन में पहले ही बहुत से विकलांग होते हैं – वे उस नए मरीज़ को समझते हैं, उसकी निजता का सत्कार करते हैं और इस सामूहिक अनुभव से मरीज़ के आत्म–विश्वास और आत्म–सम्मान दोनों में इज़ाफा होता है। उपचार पूरा

होने के बाद मरीज़ को घर जाने के लिए ट्रेन का मुफ्त टिकट और यात्रा के लिए भोजन का एक पैकेट भी दिया जाता है" (मैगसेसे पुरस्कार के वाचक-पत्र से उद्धरण)।

नए पैर का नाप लेने और उसे लगाने में लगभग एक घण्टे का समय लगता है। हर मरीज़ की विशिष्ट ज़रूरतों के हिसाब से ही उसका पैर बनाया जाता है। जयपुर-फुट को पहनने के बाद व्यक्ति आसानी से खेत में काम कर सकता है, पेड़ पर चढ़ सकता है, रिक्शा चला सकता है, ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर चल सकता है और यहाँ तक कि नृत्य भी कर सकता है। पश्चिमी देशों में विकलांग मरीज़ अक्सर बूढ़े लोग होते हैं, जबकि भारत में ऐसे मरीज़ अक्सर युवा और गरीब प्रवासी मज़दूर होते हैं।

1978 में डॉ. सेठी को उत्कृष्ट चिकित्सा शिक्षक के रूप में बी.सी. रॉय पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 1981 में उन्हें भारत सरकार ने पद्मश्री से अलंकृत किया। उसी वर्ष उन्हें सामुदायिक सेवा के लिए मैगसेसे पुरस्कार से भी सुशोभित किया गया।

डॉ. सेठी उच्च कोटि के विद्वान थे। उनकी पेड़ों तथा फूलों में गहरी रुचि थी। उन्हें पुस्तकों से प्रेम था और वे भारतीय शास्त्रीय राग, पश्चिमी जैज़, रॉक और लोक संगीत सुनना पसन्द करते थे। वे कभी किसी सामाजिक क्लब के सदस्य नहीं बने और न ही कभी वे छुट्टी पर गए। वे खाली समय अपने परिवारजनों – पत्नी सुलोचना, तीन


सुधा चन्द्रन

बेटियों और एक बेटे – के साथ घर पर ही बिताना पसन्द करते थे। 6 जनवरी 2008 को 80 वर्ष की आयु में डॉ. सेठी का देहान्त हुआ।

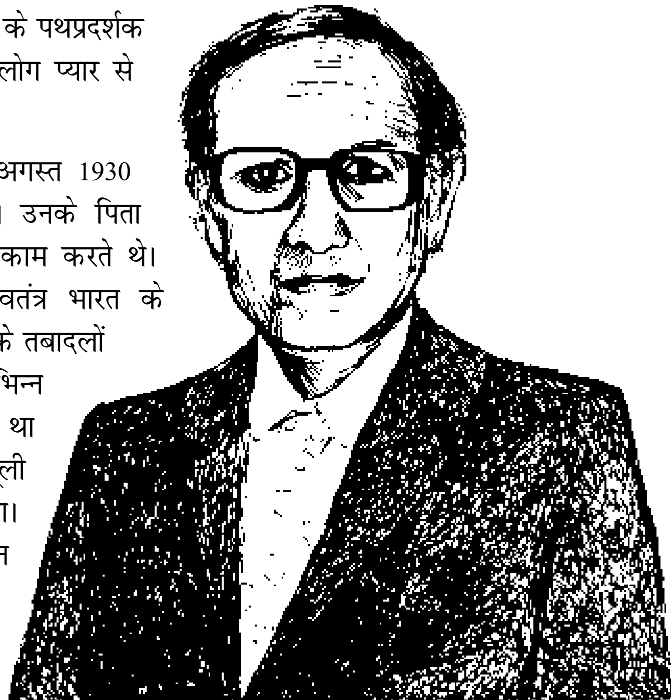
जयपुर–फुट पर डेविड सुज़ूकी ने कैनेडियन ब्रॉडकास्टिंग कॉर्पोरेशन (Canadian Broadcasting Corporation) के लिए एक वृत्तचित्र का निर्माण किया। 'नाचे मयूरी' नामक हिन्दी फिल्म ने जयपुर–फुट को सदा के लिए अमर कर दिया है। यह सदाबहार फिल्म एक प्रसिद्ध शास्त्रीय नर्तकी सुधा चन्द्रन के बारे में है। प्रसिद्धि के शिखर की ओर बढ़ती हुई इस नृत्याँगना को एक हादसे में अपना एक पैर खोना पड़ा था। उन्होंने जयपुर–फुट लगाया, फिर से नृत्य किया और सफलता की बुलन्दियों को छुआ।



शिवरामकृष्णन चन्द्रशेखर

(1930 - 2004)

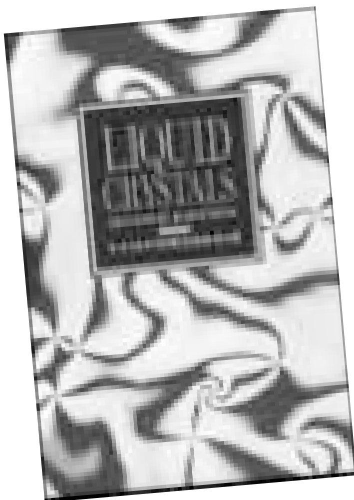
आजकल द्रव स्फटिक (liquid crystals) अनेक इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों में उपयोग किए जा रहे हैं – मोबाइल फोन से लेकर बड़ी स्क्रीन वाले टेलीविज़न तक। पहले वाली भारी-भरकम कैथोड-रे ट्यूबें अब लुप्त हो गई हैं और उनका स्थान अब द्रव स्फटिकों ने ले लिया है। द्रव स्फटिकों के क्षेत्र में विकास का श्रेय शिवरामकृष्णन चन्द्रशेखर के पथप्रदर्शक शोधकार्य को जाता है। लोग प्यार से उन्हें चन्द्र पुकारते थे।



चन्द्रशेखर का जन्म 6 अगस्त 1930 को कोलकाता में हुआ। उनके पिता अँग्रेज़ सरकार के लिए काम करते थे। पदोन्नति के बाद वे स्वतंत्र भारत के महालेखाकार बने। पिता के तबादलों के कारण परिवार को विभिन्न शहरों में जाना पड़ता था जिससे चन्द्रशेखर की स्कूली शिक्षा में विघ्न पड़ता था। चन्द्रशेखर को ये परिवर्तन

अच्छे नहीं लगते थे, इसके बावजूद वे अपनी कक्षा में अच्छे अंक लाते। चन्द्रशेखर एक नामी–गिरामी परिवार से थे। उनकी माँ सीतालक्ष्मी विज्ञान में नोबल पुरस्कार पाने वाले पहले भारतीय सी.वी. रामन की छोटी बहन थीं। चन्द्रशेखर के छोटे भाई पंचरत्नम और बड़े भाई एस. रामशेषन भी प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। 1951 में चन्द्रशेखर एम.एससी. की परीक्षा में नागपुर विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आए। उन्होंने दो स्वर्ण पदक जीते और वहीं से पीएच.डी. की।

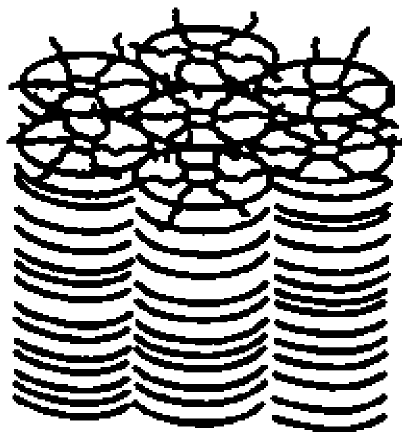
उसके बाद चन्द्रशेखर बैंगलोर आए और वहाँ उन्होंने नवनिर्मित रामन शोध संस्थान में काम प्रारम्भ किया। वे अपने विख्यात मामा सी.वी. रामन के पहले शोध छात्र थे। उन दोनों के बीच का सम्बन्ध गुरु–शिष्य जैसा था, न कि मामा–भानजे का। उसी दौरान एक दिन उनके बड़े भाई प्रोफेसर रामशेषन के घर पर चन्द्रशेखर की भेंट अपनी भावी पत्नी इला के साथ हुई। चन्द्रशेखर को उस समय छोटा–सा अनुसन्धान अनुदान मिलता था, मगर उसमें से भी पैसे बचाकर उन्होंने एक मोटरसाइकिल खरीदी जिसकी पिछली सीट पर इला को बैठाकर वे सैर को जाते। इससे वहाँ के रुढ़िवादी समाज में काफी हलचल मची। दुर्भाग्यवश एक दुर्घटना में चन्द्रशेखर को सिर में चोट लगी जिससे जीवन भर वे सिरदर्द से पीड़ित रहे। चन्द्रशेखर और इला भिन्न भौगोलिक इलाकों से थे और अलग–अलग भाषाएँ बोलते थे, इसलिए विवाह से पहले कुछ समस्याएँ अवश्य आईं। परन्तु जल्द ही उनका हल भी निकल आया।



विवाह के तुरन्त बाद चन्द्रशेखर को एक वज़ीफा मिला और वे इंग्लैण्ड की प्रख्यात कैवेंडिश प्रयोगशाला में शोध करने चले गए। वहाँ उन्होंने स्फटिकों पर एक्स–रे प्रकीर्णन (scattering) में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की एक और डिग्री हासिल की। 1961 में भारत वापस लौटने पर वे मैसूर विश्वविद्यालय के

भौतिक विज्ञान विभाग के पहले विभागाध्यक्ष बने। वहाँ भौतिक विज्ञान विभाग एक बियाबान जंगल में स्थित था। इस ज़मीन की मालकिन मैसूर की राजकुमारी लीलावती थीं। आसपास के जंगल की सफाई हो जाने के बावजूद इस इलाके में जंगली सियार, उल्लू और तेन्दुए भी आते–जाते थे। यहाँ पर चन्द्रशेखर की रुचि द्रव स्फटिकों में पैदा हुई। इससे पहले यह शोध का एक उपेक्षित क्षेत्र था और बहुत कम वैज्ञानिक ही द्रव स्फटिकीय पदार्थों के बारे में कुछ जानते थे। चन्द्रशेखर ने बाद में इस बारे में लिखा, "उस समय इस विषय के बारे में मेरी जानकारी बहुत कम थी। मैं इसके बारे में जो कुछ थोड़ा–बहुत जानता था वह मैंने 10 साल पहले 1930 में छपी किताबों में पढ़ा था।" फिर भी चन्द्रशेखर ने दृढ़प्रतिज्ञ होकर अपने शोध का क्षेत्र ठोस अवस्था (solid state) से बदलकर द्रव स्फटिक किया।

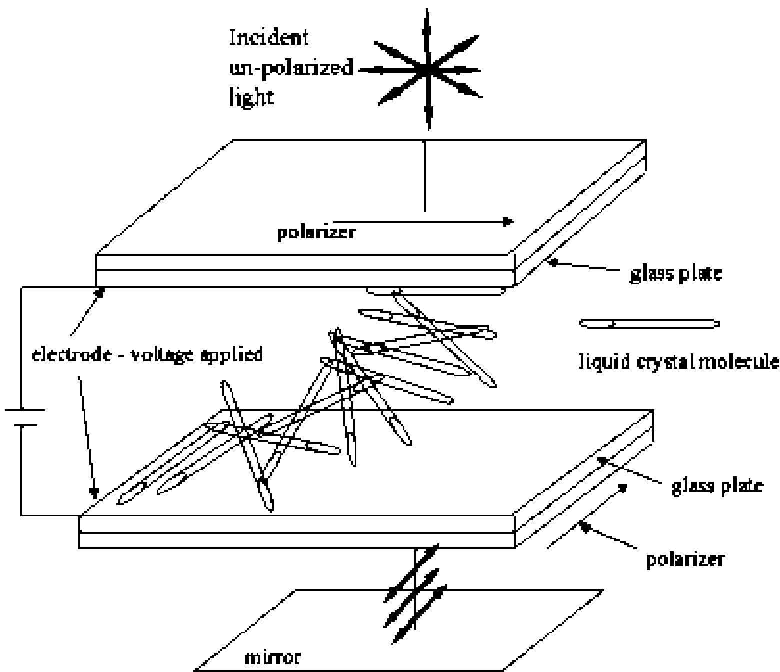
ब्रिटेन के केम्ब्रिज विश्वविद्यालय और यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में कुछ समय बिताने के बाद 1971 में चन्द्रशेखर बैंगलोर के रामन शोध संस्थान में आए। वहाँ उन्होंने अपने कुछ पूर्व छात्रों की सहायता से एक द्रव स्फटिक प्रयोगशाला स्थापित की जिसकी प्रसिद्धी जल्द ही दूर–दूर तक फैली। चन्द्रशेखर को इस बात का अहसास हुआ कि अत्याधुनिक शोधकार्य के लिए नए पदार्थों के निर्माण की क्षमता अत्यावश्यक होगी। इसलिए उन्होंने एक कार्बनिक रसायन प्रयोगशाला भी स्थापित की। जल्द ही चन्द्रशेखर की प्रयोगशाला अपने मौलिक शोधकार्य के कारण पूरे विश्व में द्रव स्फटिक पर अनुसन्धान का एक अग्रणी केन्द्र बन गई। 1977 में जब उन्होंने अपने सहकर्मियों के साथ मिलकर नए प्रकार के एक द्रव स्फटिक की खोज की जो नए तरह के अणुओं का बना था, तो चन्द्रशेखर अपने वैज्ञानिक कैरियर के शिखर पर पहुँच गए। इन अणुओं का



बेलनाकार चकती द्रव स्फटिक की संरचना

आकार चकतियों जैसा था। ये पहले खोजे गए बेलनाकार अणुओं से भिन्न थे। इस खोज से चन्द्रशेखर को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। इस खोज का समाचार *प्रमाण* नामक वैज्ञानिक शोधग्रन्थ में पहली बार छपा। द्रव स्फटिक के क्षेत्र में यह पर्चा आज भी सबसे अधिक उल्लेखित होने वाले पर्चों में से है।

अब तक चकती के आकार वाले लगभग 1,500 यौगिकों को प्रयोगशालाओं में कृत्रिम तरीकों से बनाया जा चुका है, और उनके भौतिक व रासायनिक गुणधर्मों पर 2,000 से अधिक शोधपत्र लिखे जा चुके हैं। इन नए पदार्थों को नई तकनीकों के अनुरूप ढाला जा रहा है जिनमें ज़ेरोग्राफी, सौर सेल, ऑप्टिकल स्टोरेज डिवाइसिज़ (जैसे कॉम्पेक्ट डिस्क, डीवीडी इत्यादि) और हाइब्रिड कम्प्यूटर चिप शामिल हैं।



द्रव स्फटिक का उपयोग घड़ी, कम्प्यूटर मॉनिटर और टीवी स्क्रीन में होता है।

अन्य चीज़ों के साथ–साथ अब द्रव स्फटिक जीव वैज्ञानिक संरचनाओं जैसे कि जीवित ऊतकों को समझने में मदद करते हैं, और यह ज्ञान जीव वैज्ञानिक झिल्लियों को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। इसलिए जीवशास्त्री, औषधि विज्ञानी और चिकित्सा शोधकर्ता भी द्रव स्फटिकों के अनुसन्धान में गहरी रुचि रखते हैं। वे सब चन्द्रशेखर के काम के आभारी हैं।

1977 में केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस ने चन्द्रशेखर की पुस्तक *लिक्विड क्रिस्टल्स (Liquid Crystals)* प्रकाशित की। यह इस विषय पर अनुसन्धान करने वाले किसी भी छात्र के लिए एक धर्मग्रन्थ के समान है। इस पुस्तक का रूसी एवं जापानी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इस पुस्तक का संशोधित और विस्तृत संस्करण 1992 में छपा।

चन्द्रशेखर ने कई अन्तर्राष्ट्रीय समारोहों का आयोजन भी किया जिनमें से एक 1973 में रामन शोध संस्थान की रजत जयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित किया गया था। 1990 में रामन शोध संस्थान से सेवानिवृत्ति के बाद चन्द्रशेखर ने भारत इलेक्ट्रॉनिक्स लिमिटेड द्वारा उपलब्ध कराई एक इमारत में सेंटर फॉर लिक्विड क्रिस्टल रिसर्च (Centre for Liquid Crystal Research) की शुरुआत की।

चन्द्रशेखर की वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण उन्हें बहुत से पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। भारत की तीनों वैज्ञानिक अकादमियों ने उन्हें अपना फैलो बनाया। 1983 में उन्हें रॉयल सोसाइटी, इंस्टिट्यूट ऑफ फिज़िक्स (लन्दन) और थर्ड वर्ल्ड एकॅडमी ऑफ साइंसेज़ की फैलोशिप प्रदान की गई। 1990–92 में वे इंटरनेशनल द्रव स्फटिक सोसाइटी (International Liquid Crystal Society) के अध्यक्ष बने और इस संस्था की पत्रिका *मॉलिक्यूलर क्रिस्टल्स एंड लिक्विड क्रिस्टल्स (Molecular Crystals and Liquid Crystals)* का उन्होंने दो दशकों से ज़्यादा समय तक सम्पादन किया। उन्हें कई पुरस्कार मिले – शान्ति स्वरूप भटनागर पुरस्कार (1972), भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के होमी भाभा (1987) तथा मेघनाद साहा पदक (1992), रॉयल मेडल (1994), यूनेस्को का नील्स बोह्र स्वर्ण पदक (1998) और भारत सरकार का पद्म भूषण सम्मान (1998)।

बीमारी की वजह से उन्हें ज़रा हल्का काम करने की हिदायत दी गई। इसलिए वे घर पर ही आराम करते और आगन्तुकों से मिलकर खुश होते थे। जैसे–जैसे उनकी सेहत में सुधार होता गया, वे पुनः उत्साह के साथ समारोहों और बैठकों में भाग लेने की तैयारी करने लगे। दुर्भाग्यवश 7 मार्च 2004 को उनका देहान्त हो गया। अपने पीछे वे अपनी पत्नी इला, बेटे अजीत और बेटी इन्दिरा को छोड़ गए।





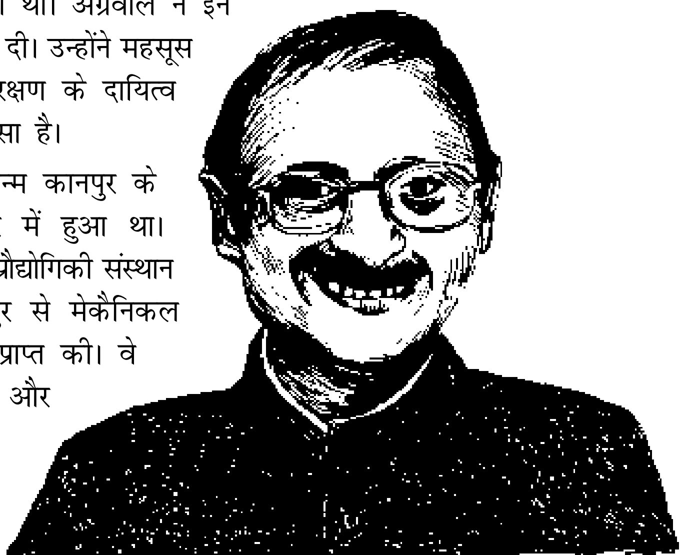
अनिल अग्रवाल

(1947 - 2002)

अगर हम गरीबों के लिए सोचते हैं तो हम सकल घरेलू उत्पाद (ग्रॉस नेशनल प्रोडक्ट) द्वारा सकल प्राकृतिक उत्पाद (ग्रॉस नेचर प्रॉडक्ट) का विनाश नहीं होने दे सकते।

– अनिल अग्रवाल: वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फण्ड, लन्दन, अक्तूबर 8, 1985

अनिल अग्रवाल भारत के एक प्रमुख पर्यावरणविद् थे। उन्होंने पर्यावरण की समस्या को शायद पहली बार गरीबों के नज़रिए से देखा। तेज़ी से बढ़ती उनकी आबादी के कारण गरीबों पर पर्यावरण अवनति और जंगलों के नाश का आरोप लगाया जाता था। अग्रवाल ने इन अवधारणाओं को चुनौती दी। उन्होंने महसूस किया कि पर्यावरण संरक्षण के दायित्व में गरीबों का बड़ा हिस्सा है।



अनिल अग्रवाल का जन्म कानपुर के एक व्यापारिक परिवार में हुआ था। 1970 में उन्होंने भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आई.आई.टी.), कानपुर से मेकैनिकल इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त की। वे बहुत ओजस्वी वक्ता थे और

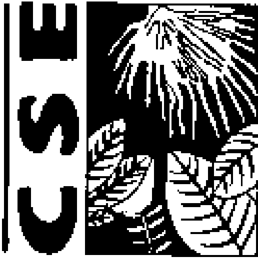
आई.आई.टी. में छात्रों के जिमखाना के अध्यक्ष चुने गए थे। अनिल अग्रवाल प्रखर बुद्धि एवं गहन निष्ठा वाले व्यक्ति थे और उन्होंने ये लक्षण छोटी उम्र में ही दिखाना शुरू कर दिए थे। पढ़ाई खत्म करने के बाद वे आई.आई.टी. के अन्य छात्रों की तरह अमरीका नहीं गए। उन्होंने *हिन्दुस्तान टाइम्स* नामक अखबार में विज्ञान संवाददाता के रूप में काम करना शुरू किया। उनमें जटिल विचारों को सरलता और स्पष्टता से पेश करने की क्षमता थी। जल्द ही लोग उनकी उत्कृष्ट लेखन शैली का लोहा मानने लगे।



रुस्तम वानिया द्वारा बनाया अनिल अग्रवाल का कार्टून

1970 के दशक के मध्य में वे इंग्लैण्ड गए और वहाँ पर्यावरण की महाधिवक्ता और *ओनली वन अर्थ (Only One Earth/* मात्र एक पृथ्वी) पुस्तक की लेखिका बारबरा वार्ड के प्रभाव में आए। पर्याप्त अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव प्राप्त करने के बाद अग्रवाल 1980 के दशक की शुरुआत में नई दिल्ली वापस आए और उन्होंने विज्ञान एवं पर्यावरण केन्द्र (Centre for Science and Environment CSE) स्थापित किया।

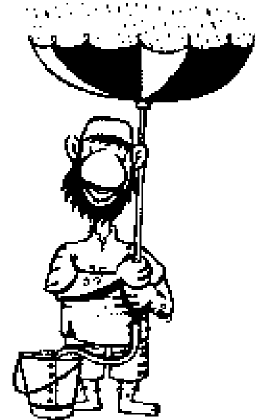
अग्रवाल के सरोकारों की गहराई और उनका विस्तार चौंका देने वाले थे। उनकी पहली झलक द *स्टेट ऑफ इण्डियाज़ एंवायरनमेंट* 1982: *ए सिटिज़ंस रिपोर्ट* (भारत के पर्यावरण की अवस्था 1982: नागरिकों की एक रिपोर्ट) के प्रकाशित होने पर नज़र आई। इस रिपोर्ट को लिखने में पर्यावरण आन्दोलनों और उनसे जुड़े तमाम सक्रिय कार्यकर्ताओं ने उनकी सहायता की। यह एक युगान्तरकारी पुस्तक है। इसमें भारत में प्रकृति के उपयोग और दुरुपयोग की पहली बार गम्भीर समीक्षा की गई। पुस्तक में ईमानदारी और आकर्षक तरीके से भारत के पर्यावरण विनाश की असलियत को दर्ज किया गया। इस पुस्तक को बहुत सराहा गया और दुनिया की सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में उसकी समीक्षाएँ छपीं!



नागरिकों की इस पहली रिपोर्ट ने संकुचित विचारधारा वाले विद्वानों, अन्धी राजसत्ता और उनींदी जनता की आँखें खोलीं। रिपोर्ट ने जैविक ईंधन व चारे आदि (biomass) के घटते प्राकृतिक स्त्रोत आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं पर पड़ते भारी बोझ का अध्ययन किया। इससे पर्यावरण और विकास के बीच रिश्ते को समझने में मदद मिली। इस रिपोर्ट द्वारा उठाए मुद्दों पर जमकर चर्चा हुई और कुछ कदम भी उठाए गए। रिपोर्ट का दूरगामी प्रभाव पड़ा। प्रसिद्ध पर्यावरणविद् शिवराम कारन्त एवं अनुपम मिश्र ने इस पुस्तक का क्रमशः कन्नड़ और हिन्दी *(देश का पर्यावरण)* में अनुवाद किया।

इसके बाद इसी प्रकार की नागरिकों की रिपोर्टें छपती रहीं। द *पॉलिटिक्स ऑफ द एंवायरनमेंट (The Politics of the Environment/ हमारा पर्यावरण)* में अग्रवाल ने जल और ज़मीन जैसे साधनों के समग्र प्रबन्धन के पक्ष में दलील दी। तीसरी रपट बाढ़ों पर केन्द्रित थी। चौथी रपट *डाईंग विज़्डम (बूँदों की संस्कृति)* में भारत में जल संवर्धन के परम्परागत तौर–तरीकों को संकलित किया गया था। यद्यपि पहली दो रपटों में जनान्दोलनों से जुड़े ज़मीनी कार्यकर्ताओं का सक्रिय योगदान था, अन्तिम दोनों रपटें सी.एस.ई. ने खुद तैयार की थीं, जो सी.एस.ई. और पर्यावरण से जुड़े ज़मीनी आन्दोलनों के बीच शिथिल होते सम्बन्धों की भी द्योतक है।

टुवर्ड्स ग्रीन विलेजेज़ (Towards Green Villages/ हरित गाँवों की ओर) में अग्रवाल ने ग्रामीण समुदायों द्वारा संसाधनों पर विकेन्द्रित नियंत्रण पर ज़ोर दिया। लोगों की सक्रिय भागीदारी से ही



भारत में प्रतिवर्ष 100 घण्टे वर्षा होती है। यदि हम इस पानी को एकत्र करना सीख लें तो इससे जलसंकट समाप्त हो सकता है।

पर्यावरण सुधरेगा और ग्रामीण विकास होगा। सी.एस.ई. ने देश में की जा रही कई महत्वपूर्ण पर्यावरण पहल – हरियाणा में सुखोमाजरी, महाराष्ट्र में रालेगण सिद्धी और राजस्थान में तरुण भारत संघ – के अनुभवों को जल–ज़मीन के मुद्दों पर समग्र रूप से काम करने वाले प्रयोगों के रूप में दर्ज किया।

अग्रवाल को इस बात पर विश्वास नहीं था कि राजनैतिक दल अथवा श्रमिक संगठन परिवर्तन के वाहक बनेंगे। इसकी बजाए उन्हें ज़मीन से जुड़े आन्दोलनों और संस्थाओं से उम्मीद थी कि वे राजसत्ता पर बदलाव के लिए दबाव डालेंगी। जब राजीव गाँधी प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने अपने मंत्रिमण्डल के सदस्यों और वरिष्ठ नौकरशाहों के साथ अग्रवाल की एक विशेष बैठक आयोजित की जिसमें उन्होंने पर्यावरण और विकास के मुद्दों पर बात रखी। राजीव गाँधी ने महसूस किया कि प्रमुख राजनेताओं में संवेदनशीलता लाने से पर्यावरण पर कुछ सकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है।

जब वाहनों के प्रदूषण से दिल्ली की हवा बहुत ज़्यादा प्रदूषित थी और लोगों का दम घुट रहा था, उस समय अग्रवाल ने *स्लो मर्डर* (धीमा कत्ल) का प्रकाशन कर एक प्रभावशाली अभियान का सूत्रपात किया। इस रिपोर्ट में बिना लाग–लपेट के उन्होंने तेल कम्पनियों, वाहन निर्माताओं और नियामक प्राधिकरणों को दोषी ठहराकर कटघरे में खड़ा किया। इस विश्लेषण के बाद संचार माध्यमों में एक ज़ोरदार अभियान भी छिड़ गया जिसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय ने प्रदूषण फैलाने वाली गाड़ियों को दिल्ली में प्रतिबन्धित कर दिया। अग्रवाल ने ठोस सबूतों और आँकड़ों के आधार पर देश के कई पूँजीपतियों और कम्पनियों को बेशर्मी से पर्यावरण प्रदूषण फैलाने के लिए ज़िम्मेदार ठहराया। उसके बाद दिल्ली के सभी सार्वजनिक परिवहन वाहनों का संघनित प्राकृतिक गैस (Compressed Natural Gas CNG) से चलने वाले वाहनों में परिवर्तन हुआ। अगर आज दिल्ली के लोग थोड़ी राहत की साँस ले पा रहे हैं तो इसका श्रेय अनिल अग्रवाल को जाता है।

अग्रवाल ने पर्यावरण के मुद्दे पर एक पाक्षिक पत्रिका *डाउन टू अर्थ (Down to Earth)* की शुरुआत भी की। इसमें *गोबर टाइम्स (Gobar*

Times) शीर्षक से बच्चों की सुन्दर लघु पत्रिका भी है। सी.एस.ई. ने अक्सर बड़ी–बड़ी कम्पनियों की मनमानी के खिलाफ ऊँची आवाज़ उठाई है और सरकार को सही नियम–कानून बनाने और उन्हें लागू करने के लिए बाध्य किया है। अनिल अग्रवाल द्वारा स्थापित सी.एस.ई. ने एक स्वतंत्र पर्यावरण प्रहरी की हैसियत से सार्वजनिक हितों के लिए बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है।

अग्रवाल 1989 में प्रकाशित पुस्तिका *ग्लोबल वॉर्मिंग इन एन अनइक्वल वर्ल्ड (Global Warming in an Unequal World/ एक असमान दुनिया में वैश्विक ऊष्णीकरण)* के एक सह–लेखक थे। इसमें उन्होंने दिखाया कि गरीबों की आजीविका से जुड़े उत्सर्जन (emissions) – जैसे धान के खेतों से मिथेन का उत्सर्जन – धनी देशों की विलासिता के लिए उत्सर्जन यानी उनके सैन्य वाहन और अन्य उद्योगों की ज़हरीली गैसों, से सर्वथा भिन्न हैं। पश्चिम के मुल्कों ने प्रदूषणकर्ताओं को पुरस्कृत किया और उसके भुक्तभोगियों को दोषी ठहराया। पश्चिमी देश हमेशा भारत और चीन जैसे विकासशील देशों को वैश्विक तापमान वृद्धि (global warming) के लिए दोषी ठहराते हैं और उन्हें पर्यावरण स्वच्छता के लिए काम करने की हिदायत देते हैं। अग्रवाल ने इसे 'पर्यावरणीय उपनिवेशवाद' करार दिया



और पश्चिमी देशों से ग्रीनहाउस (greenhouse) गैसें पैदा करने की ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी को स्वीकार करने का आग्रह किया। महासागरों और वायुमण्डल द्वारा ग्रीनहाउस गैसों की कुल मात्रा को कम कर देने की क्षमता को कार्बन–सिंक (carbon sink) कहते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक देश द्वारा वर्तमान में उत्सर्जित की जाने वाली ग्रीन हाउस गैसों के अनुपात में कार्बन–सिंक को विभाजित करना मूर्खतापूर्ण है। अग्रवाल के अनुसार न्यायपूर्ण पद्धति में दुनिया के हर इन्सान को कार्बन–सिंक में बराबरी का हिस्सा मिलना चाहिए।

अग्रवाल को अपने विलक्षण काम के लिए अनेक पुरस्कार मिले। आई. आई.टी., कानपुर ने उन्हें डिस्टिंगुइश्ड एलुम्नस अवॉर्ड से सम्मानित किया। 1987 में संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरण कार्यक्रम ने उन्हें ग्लोबल 500 रोल ऑफ ऑनर में सम्मिलित किया। भारत सरकार ने पर्यावरण एवं विकास पर उनके कार्य के लिए उन्हें पद्म भूषण से सम्मानित किया।

20 सालों से भी ज़्यादा अरसे तक अनिल अग्रवाल भारत के सर्वाधिक मुखर एवं प्रभावशाली पर्यावरण संरक्षण कार्यकर्ता रहे। उनमें जटिल वैज्ञानिक अध्ययन के परिणामों को पढ़कर उन्हें सरल, स्पष्ट शब्दों में बयान करने की विलक्षण क्षमता थी। वे पर्यावरण की ज्वलन्त समस्याओं को न केवल जनता के बीच उठाते थे, बल्कि एड़ी–चोटी का ज़ोर लगाकर उनका न्यायसंगत हल भी खोजते थे।

अग्रवाल दृढ़ संकल्प वाले व्यक्ति थे। एक लम्बे काल तक वे बीमारियों से जूझते रहे, शुरुआत में पुराने दमे से और फिर 1994 के बाद एक दुर्लभतम कैंसर से जिसका असर मस्तिष्क और आँखों पर होता है। अन्तिम दिनों में पलंग पर लेटे–लेटे भी उन्होंने अपने आखिरी अभियान की योजना बनाई और उसे कार्यान्वित किया। 2 जनवरी 2002 को 54 वर्ष की अल्पायु में देहरादून में उनका देहान्त हुआ।



इंडेक्स

यह इंडेक्स हिन्दी वर्णमाला के क्रमानुसार है।
किताबों व पत्रिकाओं के नाम इटैलिक्स में दिए गए हैं।



एकलव्य

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है जो पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य की गतिविधियाँ स्कूल में व स्कूल के बाहर दोनों क्षेत्रों में हैं।

एकलव्य का मुख्य उद्देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे से व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। अपने काम के दौरान हमने पाया है कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद, स्कूल से बाहर और घर में भी, रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। किताबें तथा पत्रिकाएँ इन साधनों का एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। बच्चों की पत्रिका *चकमक* के अलावा *स्रोत* (विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स) तथा *शैक्षणिक संदर्भ* (शैक्षिक पत्रिका) हमारे नियमित प्रकाशन हैं। शिक्षा, जनविज्ञान एवं बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मुद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्रियाँ आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं।

वर्तमान में एकलव्य मध्य प्रदेश में भोपाल, होशंगाबाद, पिपरिया, हरदा, देवास, इन्दौर, उज्जैन, शाहपुर (बैतूल) व परासिया (छिन्दवाड़ा) में स्थित कार्यालयों के माध्यम से कार्यरत है।

इस किताब की सामग्री एवं सज्जा पर आपके सुझावों का स्वागत है। इससे आगामी किताबों को अधिक आकर्षक, रुचिकर एवं उपयोगी बनाने में हमें मदद मिलेगी।

सम्पर्क: books@eklavya.in

ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016